

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA

CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 36184

CALL No. 934.01 Moo-Bud

D.G.A. 79.

ॐ
आत्माराम एन्ड सन्स
प्रकाशक इत्यादि-विज्ञान-विभाग
कापूरवाड़ा रोड, दिल्ली-४

प्राचीन भारत

सप्तमः सर्गः

प्राचीन भारत

16184

मूल लेखक

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी

एम० ए०, पी० आर० एम०, पी-एच० डी०, डी० लिट०
इतिहास-शिरोमणि

अनुवादक

डॉ० बुद्धप्रकाश

एम० ए०, एल-एल० डी०, पी-एच० डी०, डी० लिट०

934

Mos/Bud



राजकमल प्रकाशन.

प्रथम संस्करण, १९६२

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 36184

Date 30-9-62

Call No. 934.01/Moo/Bud

934/Moo/Bud

मूल्य : ₹० ६.५० न. पै.

प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली ।

मुद्रक

बि० प्र० ठाकुर

सीडर प्रेस, इलाहाबाद

विषय-सूची

प्रस्तावना

विषय : साधन

१

पहला अध्याय : पृष्ठभूमि

३

इतिहास पर भूगोल का प्रभाव; साधन; भाषाएँ; धर्म; जातियाँ (रैसेज); इनकी सांस्कृतिक देन; मौलिक एकता; राजनीतिक एकीकरण।

दूसरा अध्याय : प्राग् इतिहास

७

मानव इतिहास की अवस्थाएँ; पूर्व-पाषाण-युग; मध्य-पाषाण-युग; नव-पाषाण-युग; शिकारी, पशुपालक और कृषिप्रधान संस्कृतियाँ; सम्यता का श्रीगणेश; इसके प्राचीन स्थल; सिन्धु-सभ्यता; यहाँ की मूर्ताएँ; ईंटों का प्रयोग; नालियाँ; सांख्यिक भवन; हड़प्पा के उद्योग; नाव; सामग्रियों के खोत; मूर्ताओं के चित्र; मूर्तियाँ; धर्म; सम्भावित काल; सिन्धु-सभ्यता के निर्माता।

तीसरा अध्याय : वैदिक युग

१४

आर्य; ईरानी; ऋग्वेदकालीन भारत; प्रमुख जन; दाशराज्ञ युद्ध; आर्य-अनाय-संधर्ष; सामाजिक-संस्थाएँ; राजा; राजा का निर्वाचन; मन्त्र परिषद; सभा और समिति; न्याय; सेना; ऋग्वेदिक शिक्षा; ऋषि, संघ; श्रुतियों का अध्ययन और अर्थ; व्रतचारी; भाषा; धर्म; क्षत्रिय; स्त्रियाँ; अन्य वर्ग; विवाह; सम्पत्ति; वेशभूषा; भोजन; खेल-कूद; आर्थिक परिस्थिति; सिचाई; उद्योग-दस्तकारी; व्यापार; कालक्रम।

चौथा अध्याय : उत्तर-वैदिक-युग

२५

उत्तर-वैदिक साहित्य का युग; साधन; भौगोलिक तथ्य; सामाजिक जीवन; अर्थ-व्यवस्था; राज्य (साम्राज्यवाद); दण्ड

की प्रभुता; मंत्रिपरिषद्; सभा और समिति; शिक्षा-पद्धति; पराविद्या; अध्ययन के विषय; धर्म की चारणा ।

पाँचवाँ अध्याय : वैदिकोत्तर युग

३२

साधन; रामायण-महाभारत-कालीन सम्बन्ध; ग्रामीण स्वायत्तता; पाणिनि-कालीनभारत; ज्ञान-विज्ञान; उपचार; वर्णाश्रम-धर्म ।

छठवाँ अध्याय : उत्तरी भारत (६५० ई० पू०-३२५ ई० पू०)

३६

जैन धर्म; जैन सिद्धान्त; बौर-निर्वाण; गौतम बुद्ध; प्रथम उपदेश; बुद्धचर्या; बुद्ध की महानता; राजनीतिक इतिहास; प्रमुख राज्य; अवन्ती; वस (वत्स); कोशल; मगध; बिम्बिसार; उसकी राजधानी; उसका राज्य; शासन; धर्म; उसका अन्त; अजातशत्रु (लगभग ५५२-५१९ ई० पू०); लिच्छवि-युद्ध; धर्म; अजातशत्रु के उत्तराधिकारी; नन्दवंश; मगधराज्य; लिच्छवि; शाक्य; मल्ल; जातुक (नाग); तात्कालिक बौद्ध और जैन ग्रन्थों में वर्णित सम्बन्ध; वस्तिर्या; सामाजिक व्यवस्था; आर्थिक-परिस्थिति; ग्राम-निर्गोत्रता; दस्तकारी; व्यापार-मार्ग; नाव; कारवाँ; समुद्री व्यापार; बाजार; मुद्रा; श्रेणियाँ; व्यापार-मार्गों के संकट; जाति और व्यवसाय; ईरानी आक्रमण; सिकन्दर का आक्रमण (३२७ ई० पू०); उसकी वापसी; परिणाम; यूनानी छाप; यूनानी लेखकों द्वारा भारतीय जीवन के उल्लेख; पशु-सम्पत्ति; संन्यासी ।

सातवाँ अध्याय : मौर्य साम्राज्य

५५

चन्द्रगुप्त मौर्य (३२३-२९९ ई० पू०); चन्द्रगुप्त के कृत्यों के विषय में जस्टिन का उल्लेख; चन्द्रगुप्त की मुक्ति-सेना के सैनिक; स्वतन्त्रता-संग्राम की कथाएँ; सेल्युकस का आक्रमण; दक्षिणी विजय; पश्चिमी विस्तार; बाणक्य; शासन; शासन के विभाग; सामान्य प्रशासन; विभाग; सेना; कौटिल्य का वर्णन : विभाग; राजा; सामाजिक-जीवन; बिन्दुसार (२९९-२७४ ई० पू०); अशोक (लगभग २७४-२३६ ई० पू०); कालक्रम; साम्राज्य का विस्तार; शिलालेखों के स्थान; स्तम्भलेख; सीमाएँ; प्रशासन;

दोरे (अनुसंगान); धर्मशास्त्र; नैतिक मंत्रालय; सार्वजनिक कार्य; पश्चिमी देशों में कल्याण-मण्डल; धर्म-विजय; कलिंग विजय; नैतिक प्रचार; राजकीय दान; धर्म; तीसरी बौद्ध-संगीति; कला और स्वागत्य; गृहावास; सुदर्शन शील; अशोक के संबंधी; अशोक का अन्त; उत्तराधिकारी; मौर्य साम्राज्य का अन्त ।

आठवाँ अध्याय : मौर्योत्तर राज्य

७०

(१) शुंग-वंश (लगभग १८६-६५ ई० पू०); पुष्यमित्र (लगभग १८६-१५० ई० पू०); यूनानी आक्रमण; साम्राज्य का विस्तार; धर्म; पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी ।

(२) काण्वायन वंश (लगभग ७५-३० ई० पू०) ।

(३) आन्ध्र (लगभग ३० ई० पू०-२५० ई०); प्रारम्भिक इतिहास; शातकर्ण प्रथम; गौतमी-पुत्र शातकर्ण (लगभग ११९-१२४ ई०); पुत्तुभाबी (१३०-१५९ ई०); वासिष्ठी-पुत्र श्री शिव शातकर्ण (१५९-६६ ई०); यज्ञश्री शातकर्ण (१७४-२०३ ई०); आन्ध्र-साम्राज्य का पतन; आन्ध्र-वंश की शाखाएँ; आन्ध्र सम्पत्ता; धर्म; आर्थिक जीवन; समुद्री व्यापार; शान्ति और शासन ।

(४) कालिंग वंश: प्राचीन इतिहास; खारवेल; काल-क्रम ।

नववाँ अध्याय : विदेशी आक्रमण और उनका देश में सत्ता

७८

यवन आक्रमण; यवन राजा; सिनान्धर (लगभग ११५-९० ई० पू०); महरजस धर्मिकस मेगद्रस; शक; माजोस (लगभग २० ई० पू०-२२ ई०); वॉनोनीस (वनान); गोंन्डोफर्नेस् (लगभग २०-५० ई०); शक-क्षत्रप; तक्ष-शिला; मथुरा; पश्चिमी भारत; उज्जयिनी; रुद्र दामा; कुषाण; कुजुल कडफाईसेस प्रथम (लगभग १५-६५ ई०); विम कडफाईसेस द्वितीय (लगभग ६५-७५ ई०); उसके उत्तराधिकारी; कनिष्क प्रथम; मुद्राएँ; कनिष्क की

अतिना; वासिष्ठा (लगभग १०२-१०६ ई०); हविष्क (लगभग १०६-१३८ ई०); वास्तुदेव प्रथम (लगभग १५२-१७६ ई०); बाद के कृषाण राजा; कृषाणकालीन भारत; धर्म; कला; प्रशासन; लोक-कल्याण-कार्य और अनुदान; परिशिष्ट : यवन राजाओं का काल-क्रम ।

दसवीं अध्याय : गुप्त साम्राज्य

९२

प्राग्-गुप्त इतिहास; मणतत्र : (१) आर्जुनायन, (२) मालव, (३) यौधेय, (४) लिच्छवी, (५) शिवि, (६) कुणिन्द, (७) कुलुत, (८) औदुम्बर; राजतंत्र : (१) नाग-वंश, (२) अहिच्छत्रा, (३) अयोध्या, (४) कौसाम्बी, (५) वाकाटक, (६) मौखरी; गुप्त-इतिहास; चन्द्रगुप्त प्रथम (३१९-३३५ ई०); गुप्त संवत्; समुद्र गुप्त पराक्रमांक (लग० ३३५-३७५ ई०); कालक्रम; हरिषेण; समुद्रगुप्त की विजयें; प्रथम विजय; दक्षिणी अभियान; आर्वावत का दूसरा गुट; आर्टविक राज्यों की पराजय; प्रत्यन्त राज्यों से संबंध; विदेशी-राज्य; अश्वमेध; मुद्राएँ; चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५ ई०—४१४ ई०); कालक्रम; राज्या-रोहण; विजय; रामगुप्त; शासन; आर्थिक व्यवस्था; धर्म; मुद्राएँ; फा-ह्यान द्वारा वर्णित भारत (३९९-४१४ ई०); खोतान; कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४-४५५ ई०); शासन; मुद्राएँ; स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-४६७ ई०); शासन; धर्म; आर्थिक जीवन; मुद्राएँ; बलभी; मुरुगुप्त विक्रम प्रकाशादित्य; (४६७-६९ ई०); पुरु-गुप्त के उत्तराधिकारी; कुमारगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (४७३-४७६ ई०); बुधगुप्त (४७६-४९५ ई०); भूमि के सौदे; सामन्त और प्रान्तीय राज्यपाल; नरसिंह-गुप्त बालादित्य (४९५ ई०-लगभग ५१० ई०); मानुगुप्त; यशोधर्मा; स्थानीय राजा; वैन्यगुप्त; कुमारगुप्त तृतीय; प्रान्त का प्रशासन; गोपचन्द्र; विजयसेन; धर्मादित्य; समाचारदेव; गुप्तकालीन भारत; राजनीतिक स्वरूप; धर्म; जन-कल्याण; शिक्षा; मौखिक शिक्षा; कला और वास्तुशिल्प; मन्दिर स्थापत्य का विकास; समाज; आर्थिक

जीवन; श्रेणी-निगम; बैंक; जन-हित-कार्य; प्रशासन; इकाइयाँ; कर और आय के साधन; वाकाटक वंश (लगभग २५०-५०० ई०); स्थानीय राज्य ।

बारहवाँ अध्याय : हर्ष का साम्राज्य

१२०

साधन; पूर्वज; राजा की मृत्यु; राज्यवर्धन का अभिषेक; राज्यघी का दुर्भाग्य; राज्यवर्धन का वध; बहन का उद्धार; दिग्विजय; पुलकेशी द्वारा रोक; सेना; उत्तरी भारत पर आधिपत्य; विदेशी दूत; कन्नौज की सभा; प्रयाग की सभा; हर्ष के अग्रतिम दान; प्रशासन; राजकीय यात्राएँ; मुख्य-अधिकारी; उनका वेतन; आय; मूद्राएँ; श्वान-चांग का भारत-वर्णन; सम्प्रदाय और संन्यासी; शिक्षा के केन्द्र; नालन्दा महाविहार; प्रवेश; विचार-गोष्ठी; अध्ययन के विषय; प्रमुख शिक्षक; मूद्राएँ ।

बारहवाँ अध्याय : स्थानीय राज्य और उनका आपसी संबंध

१२१

अर्जुन; आदित्यसेन; यशोवर्मा; आयुष; प्रतीहार; नाग-भट्ट प्रथम; नागभट्ट द्वितीय; मिहिरभोज; राजशेखर; महीपाल; प्रतीहारों का पतन; गहड़वाल (१०९०-११९४); गोविन्दचन्द्र (११०४-११५५); विजयचन्द्र; जयचन्द्र; बंगाल के पाल; गोपाल; धर्मपाल; देवपाल; जाबा का दमन; नारायणपाल; संकट; महीपाल प्रथम; महीपाल द्वितीय; मदनपाल; गोविन्दपाल; चन्द्रवंश; यादव, जातवर्मा; शूर; सेन; विजयसेन, बल्लाल-सेन, लक्ष्मणसेन; कश्मीर: हर्ष; मातृगुप्त; कर्कोट-वंश; मुक्तापीड ललितादित्य; उत्पलवंश; रानी बिद्धा; लोहर; हर्ष; उच्छल; तिब्बती आक्रमण; सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में कश्मीर; सिन्धु; नैपाल; असम; मालवा के परमार; वाक्पति द्वितीय; सिन्धुराज; भोज; अण-हिलवाड़; चालुक्य; नीम प्रथम; सिद्धराज; कुमार-पाल; बघेल; विद्यालदेव; चन्देल; वाक्पति; हर्ष; यशोधर्मा; खजुराहो का मन्दिर; धंग; विद्याधर; कीर्ति-वर्मा; जेदी के कलचुरी; सवर्ण; पतन; चाहमान;

शाकम्भरी; विघ्नहराज पण्ड; पृथ्वीराज सुतीर्य;
गुहिलोत; शाही (साहिय); काला ।

तेरहवां अध्याय : दक्षिणी भारत

१४८

स्यानीय राज्य; सावंमीम राज्य; मध्य-दक्षिणी भारत :
मल; पश्चिमी-दक्षिणी भारत : भोज; त्रैकुटक; कलचुरी;
प्रारम्भिक राष्ट्रकुट; पूर्वी-दक्षिणी भारत : आन्ध्र; आनन्द-
वंश; सालकायन; १ विष्णुकुण्डी वंश; २ कलिग : (१)
पितृमक्त, (२) माठर, (३) घासिठ, (४) पूर्वी गंग;
३ दक्षिण कोसल और मेकल; सावंमीम शक्तिवां;
पश्चिमी चालुक्य : पुलकेयी द्वितीय; विक्रमादित्य
प्रथम; वित्तादित्य (६८१-९९२ ई०); विजयादित्य (६९६-
७३३ ई०); विक्रमादित्य द्वितीय; (७३३-४५ ई०); कीर्तिवर्मा
द्वितीय (७४६-७५७ ई०); पूर्वी चालुक्य : विष्णुवर्धन
प्रथम; उसके उत्तराधिकारी; राष्ट्रकुट ।

बीसहवां अध्याय : सुदूर दक्षिणी भारत

१५६

प्रारम्भिक इतिहास; पाण्ड्य; चोल; परान्तक प्रथम और
उसके उत्तराधिकारी; पल्लव ।

पन्द्रहवां अध्याय : बृहत्तर भारत

१७७

प्राचीन साध्य; स्याम (थाईलैण्ड); कम्बुज (आधुनिक
कम्बोडिया); चम्पा (अन्नम); मलामा; सुवर्णद्वीप; श्रीविजय;
बोर्निओ; बालो; जावा; बर्मा; बृहत्तर भारत में भारतीय
कला : (१) कोरिया, (२) जापान, (३) मध्य-एशिया, (४)
चीन, (५) कम्बुज, (६) थाईलैण्ड, (७) बर्मा, (८) लका,
(९) जावा, (बोरोमीद्वर), (१०) तिब्बत ।

प्रस्तावना

इतिहास का विषय मृत अतीत है, जीवित वर्तमान नहीं। इसका सम्बन्ध उन घटनाओं से है जो घट चुकी हैं, चालू घटनाओं से नहीं जो तरलावस्था और निर्माण की प्रक्रिया में हैं। इसका वास्ता उससे है जो हो चुका है न कि उससे जो यदि होता तो...। इसका विषय आदर्श नहीं यथार्थ तथ्य है।

अतीत के अध्ययन के लिए उपलब्ध सामग्री का आश्रय लेना पड़ता है। सूझर अतीत के अध्ययन के लिए सामग्री कम होती है और खोजनी पड़ती है। यह सामग्री कई प्रकार की होती है : प्रकाशित ग्रन्थ अथवा अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ, पाषाण और ताम्रपट्ट पर खुदे हुए अभिलेख, सिक्के और मुद्राएँ, दैनिक जीवन के उपयोग की वस्तुएँ, जैसे औजार आदि और प्राचीन भवनों के भग्नावशेष।

कभी-कभी यद्यपि सामग्री मिल जाती है किन्तु उनका उपयोग नहीं हो पाता। सिन्धु-घाटी (जो अब पाकिस्तान का भाग है) से प्राप्त बहुत-सी मुद्राओं पर खुदे हुए लेख भारत के इतिहास में प्राचीनतम हैं, किन्तु ये अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। भारतीय इतिहास की कुछ सामग्री विदेशों में भी पाई जाती है जैसे दारा प्रथम आदि फारसी सम्राटों के अभिलेख, यूनानी, रोमन, चीनी और तिब्बती इतिहासों के पृष्ठ और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों में पाये जाने वाले अनेक

प्राचीन भवन और शिलालेख । इनमें भारत और विदेशों के सम्पर्क का इतिवृत्त छिपा है ।

इतिहास की इस सामग्री के कुछ महत्वपूर्ण निदर्शन निम्नलिखित हैं : वैदिक साहित्य, महाकाव्य—महाभारत और रामायण और पुराण सामग्री की खानें हैं । फा-हू, गान, स्वान-चाङ्ग और ई-चिङ् नामक चीनी यात्रियों के विवरण तात्कालिक भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के तथ्यों से भरे हुए हैं । जहाँ तक शिलालेखों का प्रश्न है, अथोक के शिलालेखों का अद्वितीय महत्व है । यवन, शक और कुषाण युगों के इतिहास का ज्ञान इन वंशों के राजाओं के सिक्कों से ही होता है । स्थापत्य-सामग्री में हम भरहुत, सारनाथ, सांची और मथुरा की मूर्तियों और खुदाई के काम का उल्लेख कर सकते हैं जिनमें प्राचीन भारतीय सभ्यता के बहुतेरे रहस्य छिपे हैं ।

पहला अध्याय

पृष्ठभूमि

प्रत्येक देश के इतिहास पर उसके भूगोल का प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक अविभक्त भारत का प्रश्न था, उसकी सम्यता युग-युगान्तरों से स्वतंत्र रूप से इतिहास पर विकसित होती रही। उत्तरी पर्वतों की मजबूत रुकावटों और भूगोल का दक्षिण के समुद्रों के कारण भारत शेष विश्व से प्रायः प्रभाव मुक्त रहा। फलस्वरूप उस पर अधिक विदेशी प्रभाव नहीं पड़ सका। हिमालय पश्चिम से पूर्व तक लगभग १६०० मील लम्बी और ५० मील चौड़ी एक दुहरी दीवार है। पूर्व में पत्कोई, नागा और कुशाई की पहाड़ियाँ और उनके घने जंगल आने-जाने में बाधा डालते हैं। पश्चिमी छोर पर कुछ दर्रे अवश्य हैं; जैसे सैवर और बोलन के, जहाँ से होकर विदेशी आते थे। दक्षिण की ओर शताब्दियों तक समुद्र भारत में आसानी से आने-जाने में रुकावट डालता रहा। किन्तु बाद में नौ-विद्या-क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। फिर तो यह समुद्र व्यापार के लिए सुगम मार्ग ही बन गया। १४९८ में वास्को-दा-गामा के नेतृत्व में पुर्तगाली लोग सबसे पहिले समुद्री रास्तों से भारत आये। उसके बाद डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज आये। ये सभी बहुत समय तक भारत में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए आपस में संघर्ष करते रहे। इस प्रकार कुल मिलाकर भारत की भौगोलिक पृथक्ता के कारण यहाँ की सम्यता पर अधिक विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा।

भारत के आकार की विधाकता का भी इसके इतिहास पर प्रभाव पड़ा।

इससे प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थितियों की विविधता उत्पन्न हुई, जिसके कारण भारत विश्व का एक लघु रूप ही बन गया। इसी विधा-
साधन लता के कारण भारत में जलवायु की विभिन्नता है, जिसका फल जन्तु और वनस्पति-जगत् की सम्पन्नता है। फलतः भारत में वह सब कुछ मिलता है जो मनुष्य के लिए आवश्यक है। भारत कोयले और पेट्रोल, लोहे, मैंगनीज और कोम के साधनों से सुसम्पन्न है। उसकी विशाल कोयले की खानें बंगाल, बिहार और उड़ीसा में उसके लोहे की खानों के पास पाई जाती हैं। इस प्रकार प्रकृति ने भारत को आर्थिक-आत्म-निर्भरता के साधनों से सुसज्जित किया है।

प्राकृतिक विविधता के साथ-साथ भारतीय जनता में प्रतिबिम्बित उसकी सामाजिक विभिन्नता भी उल्लेखनीय है। भारत में १७९ भाषाएँ और ५४५ बोलियाँ विकसित हुई हैं। किन्तु संस्कृति और साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण भाषाओं की संख्या लगभग १५ ही है। इनमें से चार तेलगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम द्राविड़ हैं और प्रत्येक का समृद्ध साहित्य है। भारतीय आर्य भाषाएँ, जैसे; हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली, असमी और उड़ीसा उत्तर में प्रचलित हैं। बहुत-सी निषाद और तिब्बती-चीनी परिवारों की आदिम जातीय बोलियाँ भी पाई जाती हैं। इनमें मुण्डा प्रमुख है। किन्तु इनके बोलने वाले देश की जन-संख्या में २ प्रतिशत से भी कम है।

भारत विश्व के प्रमुख धर्मों—हिन्दुत्व, इस्लाम, बौद्धधर्म, जैनधर्म और इसाईयत—का घर बन गया है। २५ करोड़ से अधिक जनता हिन्दू धर्म को मानती है। यह अनेक मतों, सम्प्रदायों और विचारधाराओं के द्वारा उनकी धार्मिक आवश्यकताओं को पूरा करता है।

धर्म यह एक उदार और विस्तारपूर्ण विचार-गति है जो कठोर सिद्धान्तों, कड़े विश्वासों या निश्चित आचरणों की सख्त परिधि में परिवर्द्ध नहीं है और फलतः विदेशी सत्त्वों को आत्मसात् करके अपनी सम्पन्नता को बढ़ाने की क्षमता रखता है।

भारत का जटिल जातीय विधान संसार-प्रमुख जातियों के सम्मिश्रण से बना है। ये जातियाँ हैं ब्राह्मण और कोचीन के तैम्रोटी, आदिवासी आदिम निषाद जातियाँ (ऑस्ट्रोलोपिड), असम के किरात (मंगोलोपिड), विभिन्न प्रदेशों के ब्राह्मणों में प्रतिबिम्बित भूमध्यसागरीय जातियाँ, काठियावाड़, गुजरात और तमिलनाड की चौड़े सिर वाली (बेकीकिफेलिक) जातियाँ, बंगाल और उड़ीसा की दिनारी जातियाँ और पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र और बंगाल की आर्य (नोर्दिक) जातियाँ।

यह उल्लेखनीय है कि इन जातियों ने अपनी देवों से भारतीय संस्कृति को सम्पन्न किया है। आदिम-निपाद जाति (ऑस्ट्रोलॉयड) की देव निपाद भाषा

इनकी सांस्कृतिक देव है जिसे मुण्डा कहते हैं और एक विशिष्ट आदिम सभ्यता है जो मुण्डा या कोलेरी कहलाती है और संघाल परगना, छोटानागपुर, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मद्रास के कुछ भागों में

साठ लाख व्यक्तियों की अपनी कोड में लिए प्रचलित है। किरातों (मंगोलॉयड) से भारत ने २ भाषाएँ ग्रहण की हैं (१) तिब्बती-बर्मी जिसे अबोरमिरि, दफला, उत्तरी असम के मिझमी, पश्चिमी असम की पहाड़ियों के गारो, नागा-पर्वतों के कुकी-चिन, कूच-बराक नौगाँव और असम के अन्य प्रदेशों के कोच अथवा बोडो बोलते हैं, और (२) मोन-क्वेर (मंगोली) जो असम की बसी नामक पहाड़ियों पर बोली जाती है। भूमध्यसागरीय और एल्पीनी आरमोनी लोग भारत में द्राविड़ भाषाएँ और अपनी सुविकसित सभ्यताएँ लाये। नोदी लोग भारत में अपनी आपें भाषा लाये।

इस सब विविधता के नीचे समान संस्कृति की एक मौलिक एकता है जिसकी छाप प्रत्येक भारतीय पर मिलती है। साहित्यिक और धार्मिक कृतियों ने युग-युगान्तरों में इस एकता के भाव को दृढ़ किया है। इनमें मातृ-मौलिक एकता भूमि के मूर्तरूप की कल्पना करके उसकी उपासना का विधान किया गया है। इस मूर्तरूप में सात पवित्र नदियाँ, सात पवित्र नगर, सात पवित्र पर्वत मातृभूमि की रीढ़ और पसलियों के समान हैं।

सात नदियाँ गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी हैं जिनके पवित्र जल में पर्व-दिवसों पर सब दिशाओं के हिन्दुओं को एक ही प्राधेना पड़ते, एक ही धर्म के अनुयायियों के रूप में शुद्धि के लिए स्नान करना पड़ता है। सात पवित्र नगर अयोध्या, मथुरा, माया (हरद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारावती (द्वारका) हैं जो हिन्दू-धर्म के प्रमूख देवी-देवताओं से सम्बन्धित हैं। ये हैं राम, कृष्ण, गंगा, शिव और महाकाल। इसी प्रकार सात पवित्र पर्वत सुदूर दक्षिण के मलय से उत्तर के हिमालय और पारियाष (परावली) तक फैलते हुए मातृभूमि के चित्र को साकार करते हैं। इस प्रकार ये प्राधेना-मंत्र मातृभूमि के विशाल आकार और स्वरूप की भौगोलिक धारणा को, देशमातृका के विराट् देहको, चिन्तन-मनन के निमित्त जन-जन की मनोवृत्ति में बढमूल करते हैं। हिन्दुत्व का एक विशिष्ट लक्षण तीर्थयात्रा है, जो जनता को, चाहे वह शाक्त हो अथवा शैव अथवा वैष्णव, समान धार्मिक उत्साह के साथ विविध केन्द्रों के दर्शन करने की प्रेरणा देता है। मातृभूमि की समस्त मूर्तिका की पवित्रता के भाव में साम्प्रदायिक भेद विलीन हो जाते हैं और राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की नैतिक आधार-

शिला के रूप में अखिल-भारतीय-दृष्टिकोण की उपलब्धि होती है। भारतीय संस्कृति की आत्मा इस उदात्त वाक्य में मुखरित हो उठती है 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' (माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी बड़कर हैं)

भारत की विशालता और विविधता ने उसके इतिहास पर प्रभाव डाला है। इसके कारण इसके विभिन्न भागों और जातियों को एक केन्द्रीय राज्य के अधीन

राजनीतिक
एकाीकरण

राजनीतिक एकता में बाधा पड़ी है। युग-युगान्तरों में शायद ही कभी समस्त भारत का समष्टता की दृष्टि से एक इतिहास मिले; वरन् स्थानीय अथवा क्षेत्रीय इतिहासों का समूह मिलता

है जो पारस्परिक संघर्ष को प्रकट करता हुआ एक राज्य के रूप में उनके संग-ठन के विपरीत है। केवल अंग्रेजी राज्य ही देश के एक बड़े भाग को एक राज्य द्वारा अनुशासित करने में सफल हुआ, तब भी देश का एक तिहाई भाग ६०० रियासतों में बँटा हुआ था। ये अंग्रेजी प्रभुत्व के अधीन तो थे किन्तु इनके अपने-अपन शासन-विधान थे। १९४७ में ब्रिटिश पार्लमेन्ट द्वारा पारित भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अनुसार भारत से अंग्रेजी राज्य समाप्त हुआ, किन्तु देश भारत और पाकिस्तान के दो राज्यों में विभक्त हो गया; जिनके साथ देशी रियासतों को अपनी इच्छानुसार सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया। उपरोक्त अधिनियम के अनुसार बहुतांसी रियासतों में जनता की सम्मति के दबाव से तथा आधुनिक प्रशासन के साधनों की कमी को ध्यान में रखते हुए अपनी स्वतन्त्र सत्ता को भारत में मिला दिया। भारतीय संघ में इन राज्यों के विलय से और फलतः लगभग एक-तिहाई अविभक्त भारत के साधनों, प्रदेशों, आय और जनता के भारत में मिल जाने से विभाजन से उत्पन्न हानि की कुछ पूर्ति अवश्य हो गई है।

दूसरा अध्याय

प्राग् इतिहास

मानव इतिहास जिन अवस्थाओं से गुजरा है उनकी पहचान उनमें प्रयुक्त वस्तुओं से होती है। सब से प्रारम्भिक अवस्था में पाषाण का प्रयोग होता था, फिर ताम्बा, काँसी और लोहे आदि धातुओं का व्यवहार होने लगा।

प्राचीन मानव ने भारत में उत्तर-पश्चिमी पंजाब की पहाड़ियों की तलहटियों के किनारे-किनारे प्रवेश किया और गंगा की उपत्यका को छोड़कर प्रायः भारत के प्रत्येक भाग में अपने अस्तित्व के अवशेष छोड़े हैं। ये चिह्न पूर्व-पाषाण-युग वृक्षा-पत्थर के बड़े-बड़े औजार हैं जिनके कारण मानव इतिहास में इस युग को प्रथम पाषाण युग अथवा पूर्व-पाषाण-युग कहा जाता है। पूर्व-पाषाण-युग के लोग नेप्रीटो समझे जाते हैं।

पूर्व-पाषाण संस्कृति के प्रमुख स्थान कई हैं : (१) तम्रदा घाटी जहाँ विभिन्न प्रकार के आदिम-उद्योगों के वृक्षा-पत्थर, रेतीला-पत्थर और जेप के बने औजार बहुतायत से मिलते हैं; (२) कोंकण-तट की पट्टी और (३) दक्षिण का पठार। पूर्वी तट भी इन प्राचीन अवशेषों से सुसम्पन्न है। दक्षिणी-पूर्वी भारत की केचक पत्थर की धरती, (जिसे दक्षिण में इटिकाकुलु कहते हैं) से भी ऐसे उपकरण बहुत आसानी से बन सकते हैं।

दूसरी अवस्था मध्य-पाषाण-युग कहलाती है। इसका लक्षण बहुत छोटे औजार

हैं जिन्हें 'माइकोलिथ' कहते हैं और जो प्रायः समस्त भारत में, विशेषतः उत्तरी गुजरात में पाये जाते हैं। गुजरात में हुई खुदाइयों में इन लघु पाषाणोपकरणों (माइकोलिथ) के साथ-साथ गाय, भैंस, बंगली घोड़े, कुत्ते, बैल, भेड़, बकरी, मछली, घड़ियाल आदि के पथराए और ठठरे हुए अवशेष और नौप्रो नकलों की मनुष्यों की ठठेरियाँ मिली हैं। इन अवशेषों से पता चलता है कि गुजरात की लघु पाषाणोपकरण संस्कृति (माइकोलिथिक कल्चर) अत्यन्त प्राचीन है और इस युग में मनुष्य आर्सेनिकी था।

अगला पाषाण-युग नव-पाषाण-युग कहलाता है। इसमें बेहतर ढंग के पत्थर के तरासे गये चिमे हुए और चिकने किये गये औजार मिलते हैं। साथ ही हाथ के बने और बाद में चाक पर उतारे हुए मिट्टी के बर्तन, बड़ी-बड़ी शिलाओं के मकदरे और ऐसी कब्रे मिलती हैं जिनमें पार्श्वों में रखकर शवों की हड्डियाँ दबाई गई हैं। आदिवनल्लूर में ऐसी बहुत-सी कब्रे मिली हैं। नव-पाषाण-युगीन संस्कृति ने कितनी प्रगति कर ली थी इसका पता मेरु अचबा सहरे लाल या कासे लोह चूर्ण से बनाये उन चिबों से चलता है जिनमें शिकारी बारहसिंगे आदि जानवरों का पीछा करते हुए दिखाये गये हैं या जिनमें घोड़े, जिराफ, हिरण और कंगारू जैसे जानवरों का चित्रण हुआ है। मिर्जापुर, होशंगाबाद और सिंगनपुर और कैमूर की पहाड़ियों की गुफाओं में ऐसे चित्र मिलते हैं। ये नव-पाषाण-युगीन लोग आदिम निषाद माने जाते हैं।

सभ्यता की अवस्थाओं को मनुष्य के व्यवसायों द्वारा भी पहचाना जा सकता है। मनुष्य ने सबसे पहिले शिकारी का जीवन व्यतीत किया और पशु-शिकारी, पशु-पक्षी और मछलियों का शिकार करके अपना खाद्य प्राप्त किया। उसके बाद उसको अनुभव हुआ कि कुछ पशुओं को जिनसे दूध और उससे बने पदार्थ प्राप्त होते हैं, पालना अधिक उपयोगी है। वह पशुओं को पालने लगा और खेतों और चरागाहों में उनको चराने लगा। वहाँ उसे पता लगा कि उलटी हुई जमीन में बीज बिखेरने से खाद्यपदार्थ उगते हैं। इस खोज ने उसे कृषि और स्थायी जीवन की ओर प्रवृत्त किया जिसमें उसे विचार करने के लिए अवकाश मिला। उसी से सभ्यता का जन्म हुआ। इसका उदय भोजन की सामग्री की उपलब्धि के फलस्वरूप हुआ। इसका प्रारम्भ मनुष्य के सबसे अच्छे शत्रु के रूप में भेड़ों के सर्वप्रथम उपजने के साथ हुआ। वनस्पतिशास्त्रियों के मतानुसार, जिन्हें वनस्पति-विकास-आत्मी कहते हैं, भेड़ों सब से पहिले हिमालय और हिन्दूकुश की तलहटी में पंजाब के किसी स्थान पर उगा और वहाँ से पश्चिम की ओर फैल गया। इस प्रकार सभ्यता का श्रीगणेश उस स्थान पर हुआ जहाँ सबसे पहिले अन्न उपजने



शिव पशुपति (? , सिन्धु घाटी से प्राप्त मुद्रा)

लगा और पशु पाले जाने लगे ।

यह आदिम मोहें सिन्धु-उपत्यका में उपजा, जहाँ सभ्यता का अरणादय हुआ । सभ्यता का मोहेंजोदड़ो में इस मोहें के नमूने मिले हैं । यह उस मोहें का श्रीगणेश पुराव है जो पंजाब में प्रयुक्त होता है ।

इस प्राचीन सभ्यता के स्थल सिन्ध और बलूचिस्तान में मिलते हैं । वहाँ से लाल रंग और भूरे रंग के मिट्टी के बर्तन मिलते हैं । इन स्थलों में (१) क्वेटा,

इसके प्राचीन (२) अमरी-नाल-मुन्दर, (३) कुल्ली, (४) जोब, (५)

स्थल

शाही लेप और (६) रानी गुन्दई उल्लेखनीय हैं । नाल से कुछ आकृतियाँ मिली हैं जिनमें रेखाओं की सजावट और एक

मिकारी पक्षी की आकृति प्रचलित है । मुन्दर से घेर, बैल, मछली, चिड़ियों और पीपल के पेड़ की आकृतियाँ मिली हैं । कुल्ली से स्त्री की मिट्टी की मूर्ति (सम्भवतः मूढ देवता) और कूब वाले साँड़, बकरों और बिल्लों की आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं । रानी गुन्दई (जोब) से कूब वाले साँड़, भेड़, गधे और विशेषरूप से उल्लेखनीय घोड़े की हड्डियाँ उपलब्ध हुई हैं । जोब से परतोमाता की मूर्ति और पत्थर के लिंग प्रकाश में आये हैं ।

प्रागैतिहासिक संस्कृति के ये प्रारम्भिक चरण सिन्धु-सभ्यता में परिणत हुए । इनके दो केन्द्र पंजाब के मोंटगोमरी जिले का हड़प्पा नामक स्थान और सिन्ध के लरकाना जिले का मोहेंजोदड़ो नामक स्थान हैं । यद्यपि सिन्धु-सभ्यता इन केन्द्रों में ३५० मील का अन्तर है तथापि वहाँ के प्राचीन अवशेषों में एक ही तरह की सभ्यता का घाँचा प्रकट होता है । मोहेंजोदड़ो में हड़प्पा की अपेक्षा प्राचीन अवशेष अधिक मिले हैं जो वहाँ के प्राचीन नगर के एक के बाद एक सात स्तरों की जुदाई से मिले हैं ।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु मुद्राएँ हैं जिनकी संख्या २००० से अधिक है । इनपर लेखा खुदे हुए हैं जो अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं । उन पर शेर, चीते, गैंडे, रोछ, गीदड़, भेड़िये, कई प्रकार के हिरण, बारासिहे, वहाँकी मुद्राएँ सम्भर, हाथी, भैंसे, कूब वाले साँड़, भैंस, भेड़, गैंडे, पक्षी आदि पशुओं की सजीव आकृतियाँ अंकित हैं । इनके साथ-साथ, ऊँट, भेड़, घोड़े (?), कुत्ते, बन्दर, खरगोश, बकरी, सुजर और पक्षियों के कंकाल और हड्डियाँ भी मिली हैं । रानी गुन्दई के सब से निचले स्तरों में घोड़े के दान्त मिले हैं । यह कहने की जरूरत नहीं है कि इनमें से बहुत-से पशु उस समय सिन्ध में पाये जाते थे, जहाँ बाफी नदी के कारण इस पशुओं के आध्र्य के लिए घने जंगल उग गये थे । वहाँ की भरी हुई नदियों में घड़ियाल, कछुए, मछली, जलभैंसे आदि जलजन्तु भी काफी पाये जाते थे जैसा कि मुद्राओं के अंकनों

में जात होता है।

सिन्ध में उस समय काफी जल मिलता था इसका पता वहाँ की ईंटों की इमारतों से भी चलता है जो नाह और वर्षा के बचाव के लिए बनाई जाती थी।

ईंटों का अंगारों से लकड़ी मिलती थी जिससे भट्टों में ईंटें पकाई जाती प्रयोग थीं।

नगर जमीन्दोज नालियों के विशाल जाल से भरा था जो उस युग में संसार में अद्वितीय थी। घर की नालियाँ सड़क की नालियों में मिलती थीं। इनमें सफाई करने वाले आदिमियों के घुसने के लिए बड़े-बड़े सुराख बने नालियाँ हुए थे। इन सुराखों पर पत्थर के ढाँके रहते थे जो पास ही सड़क से आते थे। शहर की गन्दगी जल में सोल-गह्वों और नदों में चली जाती थी।

इस प्रकार मोहेंजोदड़ों में जनतन्त्रात्मक नगर-योजना मिलती है जो मिल और ग्राम के मन्दिरों, महलों और राज-सभायियों के अभिजातपणों के स्थापत्य के विपरीत लोक-स्वास्थ्य और सफाई पर जोर देती थी।

सड़कों की चौड़ाई भी नगर की सफाई में योग देती थी। यह चौड़ाई ९ फुट से ३४ फुट तक होती थी जो वाहनों के लिए काफी थी। दोनों नगरों में **सार्वजनिक भवन** कई सार्वजनिक भवन थे। इनमें (१) एक २३०' × ७८' का भवन, जिसकी बराबरों में कमरे थे और जो विद्यालय का काम देता था, (२) एक ९०' × २०' का लम्बों वाला बड़ा कमरा जो शायद नगरपालिकाभवन था, और (३) एक १०८' × १०८' का सार्वजनिक-स्नान-भवन, जिसके साथ ४०' × २४' × ८' का तैरने का तालाब था और जिसमें पानी भरने और खाली करने की व्यवस्था थी, उल्लेखनीय हैं। हड़प्पा में एक १५०' × २००' का राजकीय-अन्न-भण्डार मिला है जिसमें ५०' × २०' के छोटे-छोटे भंडार थे।

हड़प्पा में औद्योगिक वस्तियों के शण्डहर मिले हैं जो १६ गार्डों में स्थित थे। प्रत्येक टुकड़ा २०' × २०' था और आधुनिक कुलियों के निवास की पल्लियों की तरह दो-दो कमरों में बँटा हुआ था। आटा पीसने की चक्कियों के अवशेष भी मिले हैं। उनके लिए बनाए गये मकानों के फर्श ईंटों के होते थे और उनमें लकड़ी के ओखल फँसाने के लिए खाँचे बने होते थे। इन ओखलों में भारी मूसलों से अन्न पीसकर आटा बनाया जाता था। आटा पीसने के लिए सज्जूर अपने काम पर लगे पैर चढ़े रहते थे जैसा कि उनके पैरों से चिसी हुई फर्श की ईंटों से प्रकट होता है। फर्शों की दरारों में गेहूँ, जौ और चोकर के कण पड़े मिले हैं।

मोहेंजोदड़ों की दो मुद्राओं पर नावों की आकृति अंकित है जिनकी अगाड़ी और पिछाड़ी उठी हुई हैं। एक नाव पर भस्त्रुल, लहराता हुआ बादवान और लम्बी पतवार चलाते हुए मांझी दिखाया गया है और दूसरी नाव पर एक चौकोर केबिन और जहाज अंकित है। वे नदियों और समुद्रों से गुजरने वाले व्यापार का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

मैके के अनुसार 'सिन्धु घाटी के लोग समुद्री मार्ग से सुमेर और इलाम से व्यापार करते थे।' प्राचीन शूषा में कुल्ली के चित्रित मिट्टी के बर्तनों की नकलें मिलती हैं जहाँ के लोग समुद्री मार्गों द्वारा प्राचीन मेसोपोटामिया से व्यापार करते थे।

सात्कालिक व्यापार का क्षेत्र बड़ा विस्तृत था। इसके द्वारा नकदीक ही नहीं सुदूर देशों से भी वह सब सामग्री एकत्रित की जाती थी जो एक जगह नहीं मिलती थी। इस सामग्री का प्रयोग नगरों के स्थापत्य में और वहाँ के नागरिकों की आवश्यकताओं के लिए होता था। ऐसा ही एक विशिष्ट पदार्थ सोना है जो सर एडविन पेस्कॉ के मतानुसार केवल मैसूर में कोलार की खानों में मिलता था। इस सोने में ११% चाँदी (इलेक्ट्रन) का मेल रहता है। इसी प्रकार मोहेंजोदड़ों में प्रयुक्त सुन्दर हरा पत्थर नीलगिरि की पहाड़ियों में दोछाबेट्टा नामक स्थान से मिलता था। यह भारतीय हरा पत्थर शाम में ऊर नामक स्थान पर भी प्रयुक्त हुआ है। इससे 'प्रलय के पहिले के उस मानव का आश्चर्यजनक चित्र सामने आ जाता है जो व्यापार में लगा हुआ था और जिसके कारवाँ पहाड़ों और रेगिस्तानों में हजारों मील की दूरी को तय करते हुए मेसोपोटामिया की, चाँदी से भारत के मध्य में प्रवेश करते थे।' सुदूर बाहरी देशों से लाये गये पदार्थों में वदस्या के लाजवर्द, खुरासान के फीरोजे और पामीर-पूर्वी तुकिस्तान और तिब्बत के भरगज (भसार) उल्लेखनीय हैं। जैसलमेर से सुन्दर पीला पत्थर और १०० मील दूर किरावर की पहाड़ियों से खड़िया मिट्टी आती थी।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के उत्तरी और दक्षिणी भाग किन्ध्या-चल की दीवारों या इण्डकारण के आध्यात्मिक जंगलों के कारण एक दूसरे से अलग नहीं थे वरन् व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के दृढ़ बन्धनों में परिबद्ध थे जिनके फलस्वरूप इन रकावटों को फाँद कर वे मार्ग खोज लिए गये थे जिनसे द्राविड लोग उत्तर से दक्षिण में पहुँचे थे। इन्होंने प्रागैतिहासिक भारत के विशाल जातीय संचरण के मार्ग खोल दिये थे।

इनमें से एक पर एक चतुर्भुज देवता (जैसे ब्रह्मा या विष्णु) की आकृति मिलती है। ६ मुद्राओं पर खड़े योगी (जैसे यम) अंकित हैं। एक अन्य मुद्रा मुद्राओं के चित्र पर वृक्ष की दो शाखाओं के बीच में खड़े एक देवता का

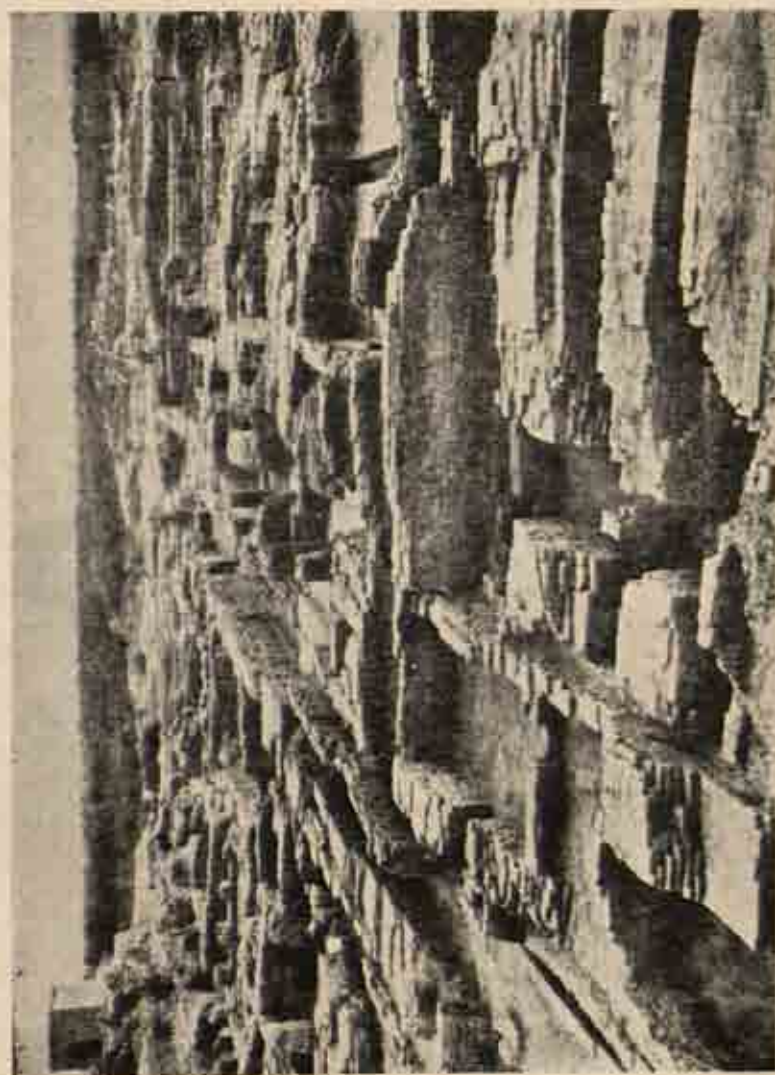
चित्र है। सात भक्त स्त्रियाँ एक शक्ति में खड़ी हैं और एक अन्य भक्त पुरुषों के बल आधा मुका चित्रित है। ये सब इस देवता की पूजा करते हुए दिखाए गये हैं। एक मुद्रा पर तीन मुख और आँखों वाला देवता चित्रित है। यह जंगली जानवरों से घिरा है और योगी की तरह बैठा है। यह देवता पशुपति (शिव) की राय दिलाता है।

एक योगी की पत्थर की मूर्ति मिली है जिसकी आँखें एकाग्र चिन्तन की मुद्रा में साम्राज्य पर टिकी हैं। नगर के प्रसन्न जीवन की शांति की कसि की नत्तेकी की मूर्ति में मिलती है जो अपने पैरों की शक्ति से संगीत की ताल का अनुसरण करती हुई जान पड़ती है। एक भक्त की मूर्ति की बाईं टाँग नटराज शिव की तरह उठी हुई है।

इसका अनुमान मुद्राओं और मूर्तियों पर चित्रित पूजा के उपादानों से किया जा सकता है। धर्म (१) शिव, (२) शक्ति, (३) पशु (देवताओं के वाहन के रूप में), (४) स्वर्ग और उनमें निवास करनेवाले देवता, धर्म (५) लिग और योनि के प्रतीक, (६) पवित्र घुपदानी आदि से संबंधित था। (७) मंत्रों और ताबीजों पर विश्वास भी इसमें शामिल था और (८) योग की साधना प्रधान धार्मिक कृत्य था।

इलाम और सुमेर में प्राक्-सारागोन-युग (२७०० अथवा २४०० ई० पू०) के कुछ स्थलों से सिन्धु-लिपि में अंकित और कंकुदमान साँड़ की आकृति से चित्रित पाँच भारतीय मुद्राओं की उपलब्धि से सर जान मार्शल सम्भावित काल में यह अनुमान लगाया है कि यह २७०० (२४०० ई० पू०) के लगभग विद्यमान थीं। किन्तु ये मुद्राएँ मोहेंजोदड़ो के बाद के स्तरों की हैं अतः उसका आरम्भ २५०० ई० पू० के आसपास समझना चाहिए। एक दूसरी भारतीय मुद्रा, जिस पर हाथी और गेडे जैसे भारतीय पशुओं की आकृति अंकित है, एक अन्य मुद्रा के साथ, जिस पर लगभग २५०० ई० पू० में राज्य करने वाले अक्काड के राजा शुर-दुर-उल का नाम लिखा है, बगदाद के निकट एशुला नामक स्थान पर मिली है। अतः २५०० ई० पू० से पहिले भारतीय मुद्रा एशुला पहुँच चुकी होगी।

सर जान हटन (१९३१ के जन-गणना-अधिकारी) इन्हें द्राविड़ मानते हैं और उनकी पहचान ऋग्वेद में वर्णित अनायों से करते हैं, जिन्हें अनास (बपटी सिन्धु-सन्ध्या नाक वाले), कुण्डलवक् (काली बमड़ी वाले), कुण्डगर्भ (काली जाति के) बताया गया है। हटन महाशय के मतानुसार ये वैदिक विशेषण आदिम निषाद अथवा कोलेरी जातियों के लिए प्रयुक्त किए गये हैं। ऋग्वेद में इन्हें शिवदेवा (लिग के उपासक) भी



मोहनजोदड़ो के प्राचीन शण्डहर



कहा गया है। मोहेंजोदड़ो से लिंगपूजा के बहुत-से उपादान प्राप्त हुए हैं।

ऋग्वेद में अनायों के दुर्गों और पुरों का उल्लेख है जो इस सम्मता के आचारभूत नगरों से मेल खाते हैं। ये दुर्ग और पुर पाथर (अश्ममयी) और लोहे (आयसी) से बने होते थे। आपें देवता इन्द्र को इन्हें नष्ट करना पड़ा था, जिसके कारण उसका नाम पुरन्दर पड़ा था।

तीसरा अध्याय

वैदिक युग

भारतीय इतिहास मुख्यतः उन लोगों की कृति है जिन्हें 'आर्य' अथवा 'आर्यन्' कहते हैं। किन्तु यह निश्चित नहीं है कि उनका मूल स्थान कहाँ था और आर्य वे भारतीय आदिवासी थे अथवा विदेशी थे।

ऐसा माना जाता है कि मूलतः आर्य एक जाति थी जो एक जगह रहती थी और एक भाषा बोलती थी। बाद में वे बिछुड़ कर विभिन्न दिशाओं में चल पड़े। जो पश्चिम की ओर गये, वे बाद में योरोप के अनेक जन बने। जो पूर्व की ओर आये वे ईरानी और भारतीय कहलाए।

आदिम आर्यभाषा को बाद की संस्कृत, यूनानी, लातीनी, ट्यूटन, केल्ट, स्लावोनी आदि भाषाओं में सुरक्षित कुछ अवशेषों से पहचानना सम्भव है, उदाहरणार्थ संस्कृत 'मातृ' लातीनी 'मैटर' है, जिससे अंग्रेजी 'मदर' निकला है, संस्कृत 'सूनु' जिससे प्राचीन जर्मन 'सुनु' और अंग्रेजी 'सन' निकले हैं। वस्तुतः भाषाशास्त्रियों के मतानुसार जीवन के मूलभूत संबंधों और अनुभवों को व्यक्त करनेवाले पिता, माता, पुत्र, पुत्री, भगवान्, हृदय, आँसु, कुल्हाड़ी, वृक्ष, कृत्ता और गाय वाची शब्द इन सब भाषाओं में लगभग एक-जे हैं। इससे यह बात मन में बैठती है कि इन बाद की भाषाओं के बोलने वाले सभी एक ही स्थान पर रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे।

चूंकि भारतीय और ईरानी अपने संचरणकाल में अधिक काल तक साथ

रहे इसलिए उनकी प्रारम्भिक साहित्यिक कृतियों—ऋग्वेद और अवस्ता—की भाषाओं में अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक साम्य है। बहुत-से शब्द, वाक्यांश और कभी-कभी समूचे पद भारत और ईरान की भाषाओं में समान या एक जैसे हैं; उदाहरणार्थ वैदिक 'इन्द्र'—अवस्ताका 'इन्द्र'; वैदिक, 'वामु',—अवस्ती, 'वमु'; वैदिक 'मित्र', अवस्ती, 'मिध्र'।

ऋग्वेद में वर्णित भारत इस प्रदेश का बल्कि उत्तरी भारत का केवल एक भाग है। इसकी पहचान इसमें बहनेवाली नदियों के उल्लेख से की जा सकती है। ऋग्वेदकालीन भारत अफगानिस्तान की चार नदियों—काबुल (कुमा), कुर्रम (कुमु), गोमल (गोमती), और स्वात (सुवासु) तथा पंजाब की पाँच नदियों—सिन्ध (सिन्धु), शैलम (वितस्ता), चिनाब (असिनी) इरावती या रावी (पराणी) और व्यास (विण्ण) और उनके साथ-साथ मतलज (शुतुद्रि), सरसूती (सरस्वती), यमुना, मंगा, नृपांगा (सिन्धु) और महदवृषा (कश्मीर की महबर्गन नदी) से परिचित है। 'सप्तसिन्धव' विशेषण, सात नदियों का देश—पाँच पंजाब की नदियाँ और दो सिन्धु और सरस्वती—ऋग्वैदिक भारत के लिए प्रयुक्त किया जाता है। (ऋग्वेद ८।२४।२७) ये सब नदियाँ 'नयोन्तुति' (१०।७५) नामक सूक्त में वर्णित हैं।

ऋग्वेद में इससे परिचित देश के दृश्यों का वर्णन है। उपा-विपयक नदों में पंजाब की अपेक्षा अधिक शुष्क भागों के मध्य अरण्योदय का वर्णन है। मेघ, वर्षा, घनगर्जन, बिजली का वर्णन करने वाले मंत्र सरस्वती, दशहती और अपापा से अभिषिक्त ब्रह्मवर्त के प्रदेश को सूचित करते हैं जहाँ ऋग्वेद का एक बहुत बड़ा भाग प्रकाश में आया।

ऋग्वैदिक इतिहास में जिन लोगों ने प्रमुख भूमिका ली, वे ये हैं : (१) गान्धारी, जो ऊनी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध है। (२) भुजवन्त, (३) जनु, (४) इह्य, (५) तुवंश (पराणी के तट पर रहने वाले), (६) पुरु, प्रमुख जन और (७) भरत (जो मध्यदेश में रहते थे)। कभी-कभी देश को 'पंचजनः' (पाँच जनो का देश) भी कहा गया है और उत्तरी सीमाओं के दो जनो को इस गणना से निकाल दिया गया है।

दाशराज युद्ध (दस राजाओं का युद्ध) ऋग्वेद

(८।२३।२ ; ८३।४)

ऋग्वैदिक भारत के अनेक जन स्वभावतः बहुत-से समूहों में बँटे थे जो प्रमुख के लिए आपस में लड़ते रहते थे। प्रथम संघर्ष मध्यावती के तट पर हरियूपिया (हड़प्पा ?) नामक स्थान पर तुवंशी और वीचवित्तों और शृजयों के मध्य

हुआ जिनमें ३०,००० कवचधारी सृजय योद्धाओं ने भाग लिया। युद्ध में बीचबिन्दु पराजित हुए। यह संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर दाशराज्य नामक निर्णायक युद्ध में पल्लवित हुआ जिसमें दस राजाओं और उनके मित्रों ने भाग लिया। इस प्रकार इसमें समूचा ऋग्वैदिक भारत लिख गया। राजाओं के संघ ने भरतजन के राजा सुदास के प्रभुत्व को चुनौती दी। इस वैदिक कृषोधेय युद्ध की एक रोचक बात यह थी कि इसमें कुछ आर्यजनों की ओर से कतिपय अनायें जातियाँ भी लड़ी थीं। ये अनायें सिन्धु के पश्चिम में रहते थे, उदाहरणार्थ अलिन (वर्तमान काफि-रिस्तान के लोग), पक्थ (पस्तून) और कुछ यमुना के पूर्व के भी थे। इस महायुद्ध के फलस्वरूप भरत राजा सुदास का प्रभुत्व सुदृढ़ हो गया। यह माना जाता है कि समस्त देश इन्हीं भरतों के कारण भारत कहलाता है।

ऋग्वैदिक इतिहास आर्यों और अनायों के संघर्ष से भरा पड़ा है। इन्हें दास, दस्यु, राक्षस और पिशाच कहते थे। इस संघर्ष में बड़ा खून-खराबा हुआ।

आर्य-अनाय-संघर्ष उदाहरण के लिए, ऋग्वेद (२।२०।६-७) में पृथ्वी को 'दासों की निजात-भूमि' कहा गया है; अन्यत्र (४।१६।१३) युद्धभूमि में ५०,००० काली चमड़ी वाले शत्रुओं के घात का उल्लेख है, और इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर (४।३०।२१) ३०,००० दासों की हत्या की चर्चा है।

सामाजिक और राजनीतिक जीवन उपयुक्त संस्थाओं द्वारा व्यवस्थित था। निम्नलिखित संस्थाएँ क्रमशः उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण थीं: (१) परिवार जिसे 'गृह' और 'कुल' कहते थे और जिसका अध्यक्ष 'कुलप' (१०।१७९।२) होता था; (२) 'ग्राम', जिसका मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था (१०।६२।११; १०७।५); (३) कबीला, जिसे 'विश्व' कहते थे और जिसका अध्यक्ष 'विश्वपति' होता था (१।३७।८); (४) 'जन', जो समस्त जाति का सूचक होता था, जैसे 'यादवजन' (८।६।४६-४८) अथवा 'भरतगोप्ता' (३।४३।५), और (५) राज्य जिसे 'राष्ट्र' कहते थे (४।४२।१)। ये सब संस्थाएँ मनुष्यों को सामाजिक और नागरिक जीवन के संघर्ष की दीक्षा देती थीं जो राष्ट्र में व्यवस्थित होने के योग्य बनाती थीं।

राज्य का प्रमुख 'राजा' होता था। वह जनता की रक्षा के लिए आवश्यक था, अतः लोग उसे प्रसन्नतापूर्वक कर (बलि) देते थे। वह राज्य के अधिशासक अथवा 'दण्ड' का कार्य करता था, जिससे धर्म (राज्य के नियम और संविधान) की रक्षा हो सके, जो राष्ट्र का वास्तविक प्रभु माना जाता था। वह सर्वोच्च न्यायाधीश भी था

राजा

और स्वयं 'अवधूय' (दण्ड से परे) माना जाता था क्योंकि 'राजा से कोई गलती नहीं हो सकती' ।

राजा के १००० स्तम्भों और द्वारों वाले प्रासाद का उल्लेख मिलता है ।

प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है (विश्वे नो राजानम् वृषानः) (१०।१२।४।८) । ऋग्वेद (१०।१७३।१) में लिखा है कि राजा प्रजा राजा का को बाह्य (बाञ्छन्तः) होना चाहिए, जिससे 'राष्ट्र' की निर्वाचन हानि न हो (मा अधिमृशत्) ।

ऋग्वेदिक राजा की मंत्रिपरिषद् होती थी जिसमें (१) 'पुरोहित', (२) 'सेनानी' (सेनापति), और (३) 'ग्रामणी' (ग्राम्य निषयो का मंत्री) मंत्रि परिषद् होते थे ।

'सभा' और 'समिति' नामक सांघजनिक संस्थाएँ भी होती थीं । सभा बृद्ध और 'सुजात' (अभिजातवर्गीय) लोगों की संस्था थी । समिति जनता की बड़ी संस्था होती थी जिसे राजा अपनी वक्तृता से अपने पक्ष में करने को लाजुर रहता था (१०।१६६।४) । ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त 'संज्ञान' अथवा 'समज्ञान' नामक देवता के प्रति,

जो राष्ट्रीय मन, अथवा समस्त जन की सामूहिक चेतना का प्रतीक है, एक प्रार्थना है । इस देवता को जनतंत्र का देवता कहा जा सकता है । सूक्त में सब नागरिकों का राष्ट्रीय समिति में एक साथ मिलकर पधारने के लिए आवाहन किया गया है । (संगच्छध्वम्) और वहाँ उन्हें एक बाणों से बोलने (संकष्यध्वम्) एक विचारधारा का बनने (सम्मतः), एक हृदय और भावना के होने (सहचिन्तमः), एक नीति का अनुसरण करने (समानमंत्रः) और समान आशाओं और अभिलाषाओं (आकृती) को धारण करने की प्रेरणा दी गई है ।

इस प्रकार ऋग्वेदिक राज्य में जनतंत्र का काफी प्रमुख जंजा था ।

मंत्रों में सौ (गायों) के रूप में दिये गये दण्ड अथवा संचय-मिथ्येद (वेर-दाय) का उल्लेख मिलता है । उनमें शराई निबटाने के लिए मध्यस्थ (मध्य-मांस) का भी वर्णन है । (१०।१७।११) में अपराध करते हुए अपराधियों (जीवगून्) को तत्काल पकड़ने वाले 'उग्र' (पुलित) का जिक्र है ।

सेना में पैदल, घोड़े और रथ होते थे । सैनिक कमण (चम्रे), दस्ताने (हस्तघ्न) और लोहे या ताम्बे का कौद (शिप्रा) पहनते थे और धनुष और बाण, जिसके मुख पर लोहे या ताम्बे की मोड़ होती थी, तलवार (असि), भाले (अश्वि), गुंते (अफ), जल (दिधु) और फेंककर मारने के पत्थर (अधि अथवा अधाति)

आदि शस्त्रों से लड़ते थे ।

रथों की घोड़े खींचते थे जिन्हें सारथि रास (रश्मि) और चावुक (कशा) से चलाते थे ।

जंगम यंत्रों द्वारा दुर्ग ताड़ने (परचरिण्य) दुर्गों के बाहर भिट्टी के रोके खनाने, दुर्गों का घेरा डालने या आग से उन्हें नष्ट करने के सैनिक कृत्यों के उल्लेख मिलते हैं ।

ऋग्वेद (मंत्रों का संग्रह) स्वयं विद्वत्ता का अमृत है जिसमें उच्चतम दार्शनिक और धार्मिक विचार उपलब्ध हैं जो उस शिक्षा-पद्धति शिक्षा की सार्थकता को सिद्ध करते हैं जिसकी यह उपज है ।

इस शिक्षा का लक्ष्य उच्चतम ज्ञान (परब्रह्मज्ञान) से कम नहीं था (ऋग्वेद १०।७१।१) जिसकी शक्तियाँ ऋग्वेद में संग्रहीत मंत्रों में मिलती हैं । ये मंत्र या सूक्त ऋषियों के मन पर ईश्वरत्व के एकाग्र चिन्तन के क्षणों में आविर्भूत हुए । उन्होंने उन्हें अपने शिष्यों को सिखाया जो उनके परिवारों के सदस्यों के समान उनके साथ रहते थे (गुरुकुल) । जैसे गुरु मंत्रों का उच्चारण करते थे वैसे ही शिष्य उनकी आवृत्ति करते थे । यह स्वर-संगम ऐसा लगता था जैसे 'गद्य अपने बल्लियों के लिए सम्भती हो' अथवा 'वर्षों के स्फुरन के बाद अपनी सामयिक निद्रा से जागकर मेढक एक सामूहिक स्वर में टरते हों' । श्रुति के अर्थ पर शान्ति से मगन करते हुए विद्याधियों की उपमा मेढकों को निद्रा से जागती है (यास्क द्वारा 'निरुक्त' १।६ में की गई 'अब्रुबाणाः' शब्द की व्याख्या) अर्थ पर अधिकार प्राप्त करने के बाद वे इस पर भाषण देने और इसकी व्याख्या करना शुरू कर देते थे (वाचम् अवादिमुः) ।

प्रमुख शिक्षक ऋषि कहलाते थे जिन्हें, यास्क के मतानुसार, तप या योग की साधना से एकाग्र चिन्तन द्वारा सत्य का साक्षात्कार हुआ था । उनसे छोटे ऋषियों को यास्क ने 'श्रुतार्षि' कहा है । उन्हें ऋषियों से शिक्षा (उपदेश) प्राप्त हुई थी (ऋग्वेद १०।७१।७) में यह स्वानाधिक सत्य मिलता है कि एक ही कशा के विद्याधियों की मानसिक शक्तियाँ 'विभिन्न गहराई के तालाबों' की तरह एक दूसरे से भिन्न होती थीं ।

ऋग्वेद में सामान्य घरेलू शिक्षा-पद्धति के अतिरिक्त, जिसके अनुसार शिक्षक अपने घरों (गुरुकुल) में रहने वाले शिष्यों (ब्रह्मचारियों) को पढ़ाते थे, 'संघ' नामक ऊँची शिक्षा-संस्थाओं का भी उल्लेख है जहाँ 'घोर विद्वान्' मिल कर बैठते और लोकभाषा में विचार-विनिमय करते थे जो 'संस्कृत' के रूप में परिष्कृत हुई ।

उनके विचार-विमर्श को छलनी में अन्न छानने की उपमा दी गई है। वे वैदिक अध्ययन के निमित्त साधियों की तरह (सखायः) इन संघों में सम्मिलित होते थे (संपजन्ते) और वहाँ उन सत्तों पर विचार करते थे, जो हृदयों में अवतीर्ण हुए थे (हृदातप्येषु) अथवा उनके मस्तिष्कों में आविर्भूत हुए थे (मनसो जवेषु)। इस प्रकार इन संघों में वैदिक भाषा और भाव को उपयुक्त रूप प्राप्त हुआ। वहाँ इस बात का भी अनुभव हुआ कि लोकभाषा (वाचम् लोकिकीम्) वैदिक भाषों का माध्यम नहीं हो सकती, वरन् 'लेत या घर' के 'हल अथवा खट्की चलाने' के काम में आ सकती है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'संघ' शब्द जो बाद में बौद्ध-धर्म का केन्द्र-बिन्दु बना सब से पहिले ऋग्वेद में आविष्कृत हुआ।

वैदिक ज्ञान जो मौखिक रूप से शिष्य गुरु से सीखते थे 'श्रुति' कहलाता था। इसका यह अर्थ नहीं है कि शिक्षण केवल शब्दों को मौखिक और मात्रिक श्रुतियों का आवृत्तियों की प्रक्रिया तक सीमित था या स्मरणशक्ति अध्ययन और का व्यायाम था। यह रट-विद्या नहीं थी। प्रमुख ध्यान अर्थ श्रुति में निहित गम्भीर अर्थ को एकाग्र और नियमित मनन द्वारा आत्मसात् करने पर दिया जाता था। ऋग्वेद के एक विशिष्ट मंत्र (१।१६।३९) में यह लिखा है कि उस व्यक्ति के लिए वेद एक व्यर्थ शिक्षा है जो ऋक् को उसका अर्थ समझे बिना पढ़ता है (यस्तन्न वेद किम् ऋचा कटि-व्यति)। इस प्रकार वैदिक दर्शन की गम्भीरता और सूक्ष्मता को सम्बन्ध प्रकार से आत्मसात् करने के लिए अत्यधिक मानसिक श्रम और मनन अपेक्षित था।

संज्ञेय में, वैदिक शिक्षालय एक छोटा घरेलू विद्यालय था जहाँ ऋषियों के निवासस्थान पर उनके साथ उनके शिष्य रहते थे और 'ब्रह्मचारी' अथवा 'व्रतचारी' कहलाते थे। उनका यह नाम इसलिए पड़ा था कि उन्हें अपने विद्यार्थी-जीवन में कुछ 'व्रतों' 'संयमों' अथवा 'तपस्याओं' का पालन करना पड़ता था (३।८।४-५; १०।१०९।५)। यास्क के मतानुसार कोई शिक्षक ऐसे विद्यार्थी को नहीं पढ़ा सकता था जो उसके साथ न रहता हो (न अनुपसन्नाय)। सब से पहिले इन विद्याधियों को श्रुति और शास्त्र को रट कर और दोहराकर याद करना पड़ता था। किन्तु अगले स्तर पर यह कार्य समाप्त हो जाता था और उनका वैयक्तिक अध्ययन आरम्भ होता था। प्रत्येक विद्यार्थी को अपने वैयक्तिक श्रम या साधना से, अपने तप अथवा योग के द्वारा, उन श्रुतियों का अर्थ जानना पड़ता था जो उसे सामूहिक कक्षा में पढ़ाई गई थीं।

उच्चतम विचार के वाहन के रूप में भाषा को सृष्टि और विकास भारतीय

प्रतिभा की भाषाशास्त्र जैसी कठिन विद्या में मौलिक कार्य करने की रचनात्मक क्षमता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। वैदिक संस्कृत का व्या-
 भाषा — करण-संबंधी-विधान सुविकसित है जिससे क्रियापद के
 लिंग, वचन, काल और लकार और कारकों की विभक्तिर्था
 अटल नियमों में बांधी गई है।

ऋग्वेद की भाषा गंभीर दार्शनिक विचारों और आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त है जिनकी आधार-शिला पर हिन्दुत्व के अनेक दल और सम्प्रदाय काल की गति के साथ बनते रहे हैं। वे सब शास्त्राओं और दृष्टियों के रूप अपने पैतृक वैदिक वृक्ष से निकले हैं। जो विचार वेद में बीज रूप में वर्तमान थे वही इनमें विकसित हुए हैं।

ऋग्वैदिक धर्म के लौकिक और दार्शनिक पक्ष भी हैं। सुरुषम के रूप में यह सूर्य, वरुण (आकाश), उषा (अरुणोदय) पूषा (कुपि-देवता), इन्द्र (धर्मा और जाँघी का देवता) और अग्नि आदि प्रकृति की शक्तियों
 धर्म और स्वरूपों की उपासना का विधान करता है। किन्तु इसमें 'ऋत' (सत्य), 'सूनुत' (समृद्धि), 'धृष्टा' या 'दान' आदि अमूर्त देवताओं की भी कल्पना है जो धार्मिक विचारों की पर्याप्त प्रगति की चोतक है (१०।११७)। यह अन्तिम सूक्त विश्व का सब से पहिला समाजवाद का शास्त्र है जो मनुष्य को भूखे को खिला देने की शिक्षा देता है जो जीवन-दान के तुल्य है। पूजा का स्वरूप यज्ञ था, जो 'होता' (जो मंत्र पढ़ते थे), 'उपगता' (जो उनका संस्वर उच्चारण करते थे), 'अश्वयु' (जो अपने कर्मचारियों द्वारा यज्ञ का भौतिक कार्य करते थे) आदि पुरोहितों द्वारा किया जाता था।

किन्तु यज्ञ के भौतिक स्वरूप के पीछे एक गम्भीर आध्यात्मिक महत्त्व छिपा है। इसकी व्युत्पत्ति आदिम दैव-यज्ञ से हुई जिसमें भगवान् ने स्वयं अपने आपको 'विराट् क्त' धारण कर अपनी प्रस्तावित सृष्टि के लिए सामग्री जुटाने के निमित्त बलिदान किया, जिससे उस एक ने अपने को अनेक में व्यक्त करने की भावना को प्रकट किया। इस प्रकार भगवान् ने अपने अनुकूल बनाये हुए मनुष्य को आत्म-बलिदान के धर्म में दीक्षित किया।

यह ठीक से समझ लेने की बात है कि यद्यपि वैदिक धर्म का अर्थ अनेक देवताओं की उपासना था, प्रत्येक देवता परब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में पूजा जाता था। ऋग्वेद (१०।११।४।५) में लिखा है कि "ऋषियों ने एक तत्त्व का अनेक रूपों में दर्शन किया" (एकं सत्त्वं बहुधा कल्पयन्ति)। १।१६।४।६ में लिखा है कि "ऋषि (विप्र) एक सत्य को (एकं सत्) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, वसु, भ्रातृरिवा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।" १०।८२।३ में एक देवता

का वर्णन है जो विभिन्न देवताओं के नामों को धारण करता है (मो देवानां नामधा एक एव) । १।२२।२० में एकदेव को विष्णु कहा गया है जिसकी सर्व-व्यापक उपस्थिति (परम पद) का योगी नित्य दर्शन करते हैं (सदा पश्यन्ति) । प्रसिद्ध गायत्री मंत्र (३।६२।१०) में भगवान् को वह चिन्तन-तत्त्व माना गया है जो मनुष्य में कार्यशील है और इस कारण जिसका परम कर्तव्य उसका ध्यान करना है (धौमहि) । सब से उच्च कोटि का मंत्र हंसवती ऋक् (४।४०।५) है जिसमें एक देव को सूर्यादि बाह्य तत्वों में और मानव-मन आदि आन्तरिक तत्वों में प्रवेश करते हुए (इतिगतिः) दिखाया गया है । मनुष्य के मन में वह एक देव नेतृता के रूप में विराजमान रहता है (नृपत-नृप चैतन्यरूपेण सदिति इति) । यह अपने आपको 'ऋत्' अथवा विश्व-विज्ञान के रूप में भी अभिव्यक्त करता है (सत्यं अवाप्य सर्वाधिष्ठानम्) । मानव जीवन को समस्या की जीवात्मा तथा परमात्मा को एक वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों के रूप में, जिनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा (ब्रह्म) बैठा देखता रहता है, प्रस्तुत करके सच्चिदा प्रदान की गई है ।

वैदिक ज्ञान ब्राह्मण जैसे विशिष्ट वर्ण तक सीमित नहीं था । ऋग्वेद में वासुदेव्य, अजमीड, सुदास, मान्वाता और जिवि आदि विद्वान् क्षत्रिय राजाओं का भी उल्लेख मिलता है ।

वैदिक शिक्षा स्त्रियों के लिए भी खुली थी । स्त्रियाँ अपने पतिपुत्रों के साथ यज्ञ-याग में भाग लिया करती थीं । उनमें से कुछ ने ऋषियों का पद भी प्राप्त किया, जैसे रोमशा, विश्ववारा, अपाला, घोषा, पौलोमी स्त्रियाँ अथवा सावित्री इत्यादि । ऋग्वेद (५।७।१) में उन्हें 'ऋषिका' और 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है ।

यजुर्वेद के एक महत्वपूर्ण अवतरण में वैदिक ज्ञान को सब जातियों और वर्गों के लिए, वृद्ध, वारण (वैश्य) और अनाथों तक के लिए प्रस्तुत किया गया है । ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में बुद्धों को समाज का एक अभिन्न अंग माना गया है और अन्य जातियों की तरह उनके कार्य भी निर्दिष्ट किये गये हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार वेद के सब से प्रामाणिक टीकाकार यास्क ने घोषणा की है कि सब से अधम पंचम जाति निषाद भी इसी प्रकार यज्ञ करने का अधिकार रखती है जैसे कि अन्य जातियाँ (निषादपंचमाः पञ्चजनाः तेषां हि यज्ञे अधिकारः अस्ति) ।

ऋग्वैदिक समाज एकपत्नीप्रधान और पितृसत्तामूलक था । विवाह के बाद वधू नवीनगृह की स्वामिनी बनती थी और अपने नये संबंधियों, सास-ससुर,

विवाह ननद-जेठ आदि को देखभाल करती थी। विधवाओं का विवाह वर्जित था।

सम्पत्ति का वारिस पुत्र होता था और उसके न होने पर पुत्री होती थी।
सम्पत्ति पुत्री को विवाह के समय दहेज दिया जाता था। दत्तक पुत्र का रिवाज था।

सम्पत्ति चल, अचल, आभूषण, पशु, रेवड़, भूमि, भवन आदि के रूप में होती थी। भूमि खेतों (क्षेत्र) में विभक्त थी जिनके बीच में जमीनों की पट्टियाँ (सिल्लर) होती थीं।

उत्तरीय (ऊपर का वस्त्र), धोती (नीचे का वस्त्र) और मोची (मध्य-भाग का वस्त्र)—ये तीन वस्त्र पहने जाते थे। कढ़ाई के काम के बकिया कपड़े भी प्रयुक्त होते थे। कान, गर्दन आदि में आभूषण पहने जाते थे। कंगन और बिछुओं का रिवाज था।

भोजन में प्रमुख रूप से चावल और जौ होते थे जो घी, दूध और उससे बने पदार्थ जैसे दही (दधि) पनीर, मक्खन के साथ खाये जाते थे। बकरी और भेड़ जैसे पशुओं का मांस भी व्यवहृत होता था। यशों में
भोजन उनकी बलि होती थी। गऊ को 'अधन्या' माना जाता था (८।१०१।१५-१६) सुरा-पान (शराब पीना) वर्जित था (७।८६।६)।

लोग घोड़ों और रथों की दौड़ के शौकीन थे। जुए, नाच और मौखिक तथा वाद्य संगीत में उन्हें आनन्द आता था। संगीत के सात स्वरों का पता था (१०।३२।४)। वाद्यों में 'हुन्दुमि' (डोलक) 'ककर्री' (बांसुरी) और 'वीणा' (सारंगी) का व्यवहार था।

ऋग्वेदिक युग की अर्थव्यवस्था कृषि और घरेलू उद्योगों पर आधित थी। कृषि पशुओं पर निर्भर थी जिनमें गाय, भैंस, बैल, घोड़े, भेड़, बकरी, गधे शामिल थे। कृत्ते चरवाहों (गोपाल) के साथ रक्षा का कार्य करते थे। जमीन की जूताई हलों द्वारा होती थी जिनमें ६, ८ अथवा १२ बैल जोते जाते थे। घान्य को काटकर घूलियों में बाँधा जाता था और खलिहान (खल) में गाहा और उड़ाया जाता था। अन्न को नूसे से अलग करने के लिए छलनी और छाज का प्रयोग किया जाता था। साद को 'शकम्' अथवा 'करीष्' कहते थे।

सिचाई के लिए जल कुओं से डोनों अथवा चउरों (कोश) में भरकर

जिसका अम्मुदत ६०० ई० पू० के आसपास हुआ, ऋग्वेद, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रों में संगृहीत विविध प्रकार के साहित्य में सन्निहित वैदिक विचार-परम्परा का साक्ष्य देता है और उसकी आधारशिला पर स्थित है, अतः इस महान् साहित्यिक विकास के लिए ६०० ई० पू० से पहिले कम-से-कम २००० वर्ष जरूर मानने चाहिए। इस प्रकार ऋग्वेद का काल २५०० ई० पू० के लगभग है। ऋग्वेद (अ० १००।४ : ९।८४।१ : १०। ११८।८) में उरु-सिति और उरु-शय नामक दो स्थानों का उल्लेख है जिनको पहचान २८०० ई० पू० के इलाम के नगर उर और किस से की जा सकती है जहाँ सिन्धु-नादी की मुद्राएँ भी मिली हैं।

उत्तर-वैदिक-युग

इनमें साम, यजुष और अथर्व नामक बाद की तीन वैदिक संहिताएँ शामिल हैं। इनके बाद गद्य-ग्रन्थ आते हैं जो ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् उत्तर वैदिक इन तीन वर्गों में मिलते हैं। इन ग्रन्थों में सांस्कृतिक और साहित्य का युग सामाजिक इतिहास की सामग्री भरी पड़ी है।

अथर्ववेद में लौकिक और सामाजिक जीवन के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों, समा और समिति, किसानों, चरवाहों और व्यापारियों की मंगल-साधन भावना, ज्वर, क्षय आदि रोग और उनके उपचार, विवाह और राज्य की सम्भावनाओं आदि की चर्चा है।

सामवेद में ऋग्वेद के चुने हुए मंत्रों को स्वर और रुढ़ी के साथ बिछाया गया है।

यजुर्वेद वैदिक यज्ञ-याग के करने वाले अध्वर्यु पुरोहित के प्रयोग के लिए है। इसके कुछ भागों में मंत्र हैं और कुछ में, कृष्ण यजुर्वेद में, उन पर गद्य-टीकाएँ हैं। 'शुक्ल यजुर्वेद' में पद्य भाग 'वाजसनेयी संहिता' में संगृहीत है और गद्य-भाग 'शतपथ ब्राह्मण' में उपलब्ध है जो सांस्कृतिक इतिहास का महत्वपूर्ण साधन है।

इन सब ग्रन्थों का मूल ऋग्वेद है। इनके वर्ण्य-विषय को निम्नलिखित कक्षाओं में बाँटा जा सकता है: (१) कर्मकाण्ड—ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञ-याग, (२) उपासना काण्ड—आरण्यकों में वर्णित मंत्र और प्रार्थना, (३) ज्ञानकाण्ड—

उपनिषदों में वर्णित दर्शन ।

उत्तर-वैदिक साहित्य में वैदिक सभ्यता का पूर्व की ओर क्रमिक प्रसार, और नवीन जनो और राज्यों का निर्माण परिलक्षित होता है । इन जनो में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं : (१) कुरुपांचाल, जो तात्कालिक भौगोलिक तथा साहित्यिक सर्वश्रेष्ठ संस्कृत के कर्ता और वेद-विद्या के अग्रणी के रूप में प्रख्यात थे, (२) कोसल—काशी, जिसका प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु था, (३) विदेह, जहाँ का राजा राजर्षि जनक बहुत प्रसिद्ध था । उत्तर की ओर उत्तर-कुरु, उत्तरभद्र, वत्सा, उत्तोर और मत्स्य वैदिक संस्कृति के केन्द्र थे । पूर्व में मगध, अंग और वंग जमी आर्य-भारत के बाहर थे और दक्षिण में आन्ध्र, पुलिन्द, मल्लिव, पुण्ड्र, शबर, नैषध, विदर्भ आदि जनार्ण्य लोग रहते थे जिनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (७।२।४।९) में उपलब्ध है । अथर्व-वेद (५।२।२।७) में यह कामना की गई है कि तक्षशिला (ज्वर) मगध, अंग, वंग, मल्लवारी, भूजवन्त आदि लोगों के देश में चला जाए । इससे आर्य भारत की सीमाएँ प्रकट होती हैं ।

यह जाति-प्रथा पर निर्भर था, किन्तु जाति और व्यवसाय का संबंध सख्त नहीं था । उपनिषदों में विद्या को ब्राह्मणों की बर्ती नहीं माना गया । उनमें अनेक विद्वान् राजाओं और क्षत्रियों की चर्चा है जिन्होंने सामाजिक जीवन ब्राह्मणों तक को दीक्षा दी । उदाहरणार्थ, राजा जनक ने युवक पाण्डवकुमार को शिक्षा दी, पंचाल के प्रवाह्य जैबली, काशी के अजातशत्रु और अश्वपति केकाय ने ब्राह्मणों को उपदेश दिया ।

वैदिक साहित्य में वैश्य और शूद्र जातियों का उल्लेख नहीं है । ऐतरेय ब्राह्मण में व्यवसायों के अनुसार जातियों का परिगणन इस प्रकार हुआ है : ब्राह्मण की जीविका दान पर आधारित है (आदायी), क्षत्रिय भूमि का स्वामी है, वैश्य कर का देने वाला (अलिकृत) है और अपने क्षत्रिय स्वामी का असायी है और शूद्र को सेवा से जीवन व्यतीत करता है ।

यह कृषि-प्रधान थी । उस समय भी आज की तरह बहुत-सी फसलें उगाई जाती थी । चावल (वीही), जौ (यव), मूँग (मुद्ग), उड़द (माष), 'तिल', गेहूँ (गोधूम), मसूर आदि जलो की तालिका राजसूनेवी-अर्थ-व्यवस्था संहिता (१८।१२) में दी हुई है । शतपथब्राह्मण (१।६।१।३) में हल चलाने, बीज बोने, फसल काटने और गाहने-उड़ाने की आदि की कृषि-प्रक्रियाओं का वर्णन है ।

उद्योग दस्तकारी पर केन्द्रित थे । टोकरी, रस्सी, रंग, मिट्टी के भाण्ड और धान की बस्तुएँ स्थानीय रूप से बनाई जाती थी और उनसे ग्रामीण लोगों

की आवश्यकताएँ पूरी होती थीं। गाँव का राज गाँव में ज़मीन की प्रतिष्ठा के लिए निश्चित आकार और स्वरूप की वेदी बनाता था। इसमें १०,८०० ईंटें लगती थीं और यह पंच फैलाये हुए पक्षी के आकार की होती थी।

नौ-निर्माण का ज्ञान था। गाँविक को 'तावज' कहते थे, बाढ़ और मस्तूल पर कार्य करने वाला 'सम्बी' होता था, पतवार का नाम 'अरित्र' था। १०० पतवारों के जहाज़ (शतारित्र) द्वारा समुद्रयात्रा का उल्लेख मिलता है। (वही ३१।७ ; मेरा ग्रन्थ 'भारतीय सभ्यता' सन्दन पृ० ९६)।

सोने, चाँदी, कंस (अयस्), लोहे (स्यम-अयस्) ताँबे (लोह) सीसे (सौस) और टिन (वपु) की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। सोने और चाँदी के सिक्के और जेवर बनते थे। सिक्कों के लिए सोने की नापसोल होती थी, जैसे १०० कृष्णाल का शतमान।

राज्य का रूप एकराट् था। साम्राज्यवाद के राजकीय आदर्शों को चोखत करने वाली, परिभाषाएँ भी मिलती हैं। राजाधिराज को 'एकराट्', 'सम्राट्',

राजाधिराज आदि विशेषणों से पुकारते थे। अथर्ववेद

राज्य :

साम्राज्यवाद

(३।१।४।१) में पूर्वी प्रदेशों के एकराट् (प्राङ् विश्वामपतिः)

का उल्लेख है जो मौर्य साम्राज्य का पूर्ववर्ती था। साम्राज्य-

वाद अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों में प्रतिबिम्बित है। साहित्य में दौघ्यन्ति भरत और सत्राजित भरत नामक सम्राटों की चर्चा है जिनकी बराबरी मनुष्य न पहिले कर सके न बाद में। एतरेय ब्राह्मण में एकराट् को परिभाषा 'सोमाओं तक समस्त देश का एकमात्र अधिपति' की गई है। राजनीतिक आदर्शवाद की भावना से समस्त विश्व के सम्राट् (सार्वभौम) की भी कल्पना की गई है।

वैदिक राजा वैधानिक राजा था। उसकी स्वेच्छाचारिता पर अनेक लोक-तंत्रीय नियंत्रण थे। अथर्ववेद में उसके निर्वाचन, निष्ठाग्रहण और पुनःसंस्थापन

का वर्णन है। निर्वाचित राजा को विशपति कहते थे। उसे

दण्ड की

प्रभुता

धर्म और सत्य (नियम और विधान) के प्रति सत्यसंध रहने

की शपथ लेनी पड़ती थी, जो राष्ट्र के वास्तविक प्रभु माने

जाते थे। वह केवल धर्म की प्रतिष्ठा और आचरण के लिए दण्ड का कार्य करता था।

राजा को अपनी मंत्रिपरिषद् का परामर्श लेना पड़ता था। मंत्रिपरिषद् में (१) पुरोहित, (२) महीषी (सब से बड़ी रानी), (३) सेनानी (प्रधान सेना-

पति), (४) क्षत्ता (प्रतिहारी), (५) संघहीता (कोशा-

मंत्रिपरिषद्

ध्यक्ष), (६) भागदुन् (कराधिकारी), (७) राजा (साम-

न्तों का प्रतिनिधि), (८) सूत (चारण), (९) रथ कार

(सेना का प्रतिनिधि), (१०) कर्मार (उद्योगों का प्रतिनिधि) और (११) ग्रामणी (ग्राम्य जनता और हितों का प्रतिनिधि) शामिल होते थे। मंत्रियों को 'राजकृत' (राजा को बनाने वाले) कहा गया है (अथर्व ३।५।७) जो उनकी शक्ति का परिचायक है।

ये लोकसंस्थाएँ ऋग्वेदिक युग से ही भारतीय शासनपद्धति की मौलिक संस्थाओं के रूप में कार्यशील थीं। अथर्ववेद में उन्हें प्रजापति की दो पुत्रियों के रूप में प्रस्तुत करके उनके महत्व को प्रतिपादित किया गया है। भाव यह है कि इनका अभ्युदय सम्प्रदाय के आविर्भाव के साथ हुआ। उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में उनकी कार्य-पद्धति के विषय में कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। अध्वक्ष (स्पीकर) को 'समापति', जारक्षक (सारजेंट) को 'समापाल' और सदस्य को 'समासद्' कहते थे। इसका आदर्श यह था कि सब सदस्य आनन्दपूर्वक एक वाणी बोलें (सवाचसः)। समा के विरुद्ध किये गये अपराधों और इनके नियमों के उल्लंघन से 'तिरस्कार' (सामाजिक बदनामी) होता था। बहुसंख्यक वर्ग की सम्मति (गोट) को 'निरिष्ठा' कहते थे जो सायण की व्याख्या के अनुसार 'असंघ' होती थी क्योंकि यह अधिक जन की वाणी थी (अथर्ववेद ७।१२।३ बहवः सम्भूव यदि एकं वाक्यं वदेयुः तत् हि न परं अतिलघ्वम्)।

समिति जन की बड़ी परिपद् होती थी जिसे राजा के निर्वाचन का अधिकार था।

अथर्ववेद में लिखा है कि शिष्य की शिक्षा का श्रौणपेज 'उपनयन' से होता है जिससे आचार्य उसे दूसरा आध्यात्मिक जन्म दिलाता है। तब वह 'द्विज' 'अग्नेवासी' (आचार्य के साथ रहने वाला) और 'ब्रह्मचारी' (अनुशासन के नियमों का पालन करने वाला) हो जाता है। काले मृग की खाल पहने प्रतिदिन अग्नि की उपासना के लिए जो उसके अन्तःकरण को उद्भासित और प्रकाशित करता है और उनके मन में दिव्याज्योति जाग्रत करता है, ईन्धन इकट्ठा करने के लिए वह वन को जाता है। इसके बाद वह विद्यालय के लिए भिठाटन करने जाता है, जो सामाजिक सेवा की प्रथम शिक्षा है। उसे अपने आचार्य के पशुओं और घर-बार को देख-भाल करनी पड़ती थी। इस प्रकार इस शिक्षापद्धति से एकदम उसका प्रकृति, समाज और व्यावहारिक शिक्षा से संबंध होता था।

उपनिषदों में शिक्षा-पद्धति का विषय वर्णन मिलता है। शिक्षा का अर्थ व्यक्तित्व का 'शिक्षण' है, जिसका अर्थ विद्यार्थी की प्रतिभा का विकास होता है। इसका लक्ष्य विद्यार्थी के मन को शिक्षित करना था जिससे उसमें सत्य की

सहज करने की क्षमता उत्पन्न हो सके और बड़ केवल बाह्य ज्ञान के संग्रह का भण्डार मात्र न बन जाए। ज्ञान के साधन के रूप में मनुष्य का मस्तिष्क वैश्वनिक उपचार का प्राथमिक उपादान है। उपनिषदों में शिक्षा के तीन स्तरों की चर्चा है : (१) श्रवण (आचार्य की वचनों की सुनना)। इस प्रकार आचार्य विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से ज्ञान बताता था जिससे वह उसे अपने मस्तिष्क में संग्रहीत रखे और लेखबद्ध न करे। इसका सिद्धान्त यह था कि शब्द ही ब्रह्म है। जिन ग्रन्थों में ज्ञान का संग्रह था उन्हें 'श्रुति' कहते थे जिसका अर्थ था 'वह जो सुना जाए'। आचार्य उसके ज्ञान का कोश और मूर्तिमान् आकार अथवा एक जीता-जागता चलता-फिरता पुस्तकालय था। (२) मनन—श्रवण के बाद मनन आता था। श्रुति के अर्थ को विद्यार्थी स्वतंत्ररूप से सोचता था। (३) उसके बाद निर्विषयासन अथवा सत्य में पूर्ण निमग्नता उत्पन्न होती थी। इस प्रकार शिक्षा एक उच्च नैतिक प्रक्रिया, भूत से मन की बढ़ती हुई तटस्थता की प्रक्रिया थी (वैराग्य), जिससे मनुष्य का तटस्थ मन आत्मा का चरमसत्य के रूप में साक्षात्कार करके और ब्रह्म सत्य और जगन्मिथ्या का अनुभव प्राप्त करके उसे एकाग्र-भाव से आत्मसात् करता था।

परेंटू विद्यालय अथवा ऋषियों के आश्रम के अतिरिक्त शिक्षा के प्रसार के अन्य साधन भी थे। 'चरक' अथवा विद्वान् प्रवचनों और शास्त्रार्थों द्वारा जनता को शिक्षित करने के अभिप्राय से, उत्साह से, देशाटन और भ्रमण करते रहते थे। परिषदों (अकादमी) में विद्वान् पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा ज्ञान-साधना के लिए एकत्रित होते थे। ऐसी ही एक परिषद् 'पांचाल-परिषद्' थी, जिसमें वहाँ का विद्वान् राजा 'प्रवाहण जैबली' प्रतिदिन जाता और भाग लिया करता था। तीसरे, राजाओं द्वारा आयोजित विद्वत्सभाओं द्वारा ज्ञान का प्रसार होता था। ऐसा ही एक सभाज विवेक के राजा जनक ने आयोजित किया था। उसमें अनेक विद्वान्; विशेषकर कुरु-पांचाल देश के विद्वान्, जो विद्वानों का घर (विदुषा वाहुल्य) माना जाता था, अपने राजबल्क्य, उद्यालकभारुणि और गार्गी आदि आचार्यों के नेतृत्व में एकत्रित हुए थे। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों ने शास्त्रार्थ में भाग लिया। समाज में राजबल्क्य की दार्शनिक महत्ता स्वीकार की गई और उसे १००० गार्गी का समूह जिसमें प्रत्येक गार्गी के सौनों में पाँच 'पाद' या स्वर्ण-मुद्राएँ बँधी थीं, राजकीय पुरस्कार के रूप में प्रदान किया गया। समाज का उद्देश्य विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के आधार पर उनके आचार्यों की व्याख्या के अनुसार हिन्दू-धर्म को निर्धारित करना था।

ज्ञान के दो स्वरूप थे—आध्यात्मिक और लौकिक । पहिले को 'पराविद्या' (परम ज्ञान) और दूसरे को 'अपराविद्या' (अविद्या) कहते थे । वेद तक यदि 'पराविद्या' की शिक्षा न दें तो उन्हें भी 'अपराविद्या' माना जाता था । यह नारद जैसे ऋषि के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है जिसने हताश हो कर सनत्कुमार की शरण ली जिस पर राजा ने उसे कहा कि वह केवल 'मंत्रविद्' अथवा वेद के शब्दों में निष्णात् है और जब तक वह 'आत्मविद्' नहीं होता और आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं करता, तब तक उसका सब ज्ञान व्यर्थ है ।

छान्दोग्य उपनिषद् में तात्कालिक ज्ञान और अध्ययन के विषयों की तालिका मिलती है । इसमें चार वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, राशी (गणित), निधि, वाकोषात्म्य (तर्कशास्त्र), भूतविद्या (ज्योतिषशास्त्र), क्षत्रविद्या (सैनिक विज्ञान), नक्षत्रविद्या और देवजनविद्या (कला और उद्योग) शामिल थे ।

उत्तर वैदिक ग्रन्थों का विशेषतः उपनिषदों का युग भारतीय ज्ञान का स्वर्ण-युग है । हम देख चुके हैं कि उपनिषद् ऋग्वेद की व्याख्याएँ हैं । इनमें उसके विचारों के बीच व्याख्यात्मक गद्य और कथोपकथन के द्वारा विकसित हुए हैं । इस माध्यम से इसकी प्रमुख विशेषताएँ पूर्णतः प्रस्फुटित हुई हैं और इसका धर्म निर्धारित हुआ है । अथर्व-वेद (१२।१।१) में धर्म की धारणा को निम्नलिखित लक्षणों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है : (१) सत्य—ऋग्वेद (१०।८५।१) में लिखा है कि 'सत्य द्वारा पृथ्वी स्थिर है' । इसे मुण्डकोपनिषद् (३।१।५) में इस प्रकार व्यक्त किया गया है "केवल सत्य द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है" (सत्येन लभ्यः), "केवल सत्य की विजय होती है, झूठ की नहीं", (सत्यमेव जयते नानु-सम्) । सत्य की 'बृहत्' (सब वस्तुओं को अपने भीतर समाने वाला) कहा गया है । (२) ऋतु—यह 'उष', कठोर, कठिन और अलम्बा है ; सौर-शासन अथवा प्रकृति के नियमों में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है, (३) दीक्षा—आचार्य द्वारा विद्यार्थी का आदर्शगुण जीवन के लिए दीक्षित होना । (४) तप अथवा ऋद्धावर्ष संवर्धित जीवन का अनुशासन जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है । (५) ब्रह्म अथवा स्वाध्याय—वेद का अध्ययन, और (६) यज्ञ जो आत्मबलिदान पर आधारित था जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है और विभिन्न प्रतिमाओं और शक्तियों के अनुरूप जिसके विभिन्न स्वरूप और प्रकार थे । भगवद्गीता में इन्हें

(१) तप, (२) योग, (३) ब्रह्म (वैदिक ज्ञान), (४) ज्ञान, और (५) दान के यज्ञ कहा गया है।

उपसंहार रूप में यह उल्लेखनीय है कि अम अवस्था उद्योग को धार्मिक जीवन का आधार माना गया है। ऋग्वेद (४।३३।११) में लिखा है कि 'देवता उसकी सहायता नहीं करते जो स्वयं उद्योग नहीं करता' (न ऋते सन्तस्य सत्ताय देवाः)। उपनिषद् ने इसी बात पर जोर देते हुए कहा है : न हि आत्मा बल-हीनेन लभ्यः शक्तिहीन मनुष्य आत्मा (का साम्राज्य) प्राप्त नहीं कर सकते। यह भाव यजुर्वेद में पूर्णतः पल्लवित और प्रस्फुटित हुआ है। वहाँ लिखा है कि धार्मिक व्यक्ति के गुण निम्नलिखित हैं :—(१) तेज, (२) तीर्थ, (३) बल, (४) ओज, (५) मन्यु (शक्ति), (६) मह (उदात्तभाव) और (७) सह (सहिष्णुता और धैर्य)। धर्म जीवन की परिपूर्णता है ; यह प्रमादी और दुर्बल के लिए नहीं है।

वैदिकोत्तर युग

(लगभग १५०० ई० पू० ६०० ई० पू०)

इस इतिहास की आंकी इन साहित्य-कृतियों में मिलती है : रामायण और महाभारत, श्रौत और गृह्य सूत्र, जिनमें वैदिक और परेलू धार्मिक उपचारों का साधन वर्णन है और धर्मसूत्र जिनमें न्याय और शासन का उल्लेख है। धर्मसूत्रों के बाद स्मृतियों का स्थान है।

ऐतिहासिक दृष्टि से रामायण का विषय आर्य नेता राम द्वारा एक हिन्दू युद्ध में अनार्य नेता रावण के वध के परिणामस्वरूप लंका तक दक्षिण में आर्य रामायण-महा-सम्प्रदाय का विस्तार है। यह केवल शस्त्रों का संघर्ष ही नहीं भारत-कालीन या वरन् विचारधाराओं का द्वन्द्व भी था। आर्यों का उद्देश्य सम्प्रदाय महाभारत के युग में पूर्ण हुआ। इस ग्रन्थ में 'धर्म युद्ध' (पाप के विरुद्ध पुण्य के द्वन्द्व) का वर्णन है। युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण के नेतृत्व में पाण्डव और दुर्योधन के नेतृत्व में कौरव क्रमशः पुण्य और पाप के प्रतिनिधि हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध में समस्त भारत सम्मिलित हुआ और इसके बड़े प्रदेश के राजाओं ने पाण्डवों का साथ दिया। अन्त में युधिष्ठिर और उसके बड़े भ्राता अर्जुन और भीम के नेतृत्व में सत्य की जय हुई और धर्म का राज्य स्थापित हुआ जिसके लिए स्वयं भगवान् ने कृष्णावतार लिया।

यह उल्लेखनीय है कि ३२३ ई० पू० से पहले के राजवंशों के पुराणों में दिये गये राज्यकाल की गणना के अनुसार कुरुक्षेत्र के युद्ध का काल १५२५

ई० पू० के लगभग माना जा सकता है ।

रामायण और महाभारत सांस्कृतिक इतिहास के लिए महत्वपूर्ण हैं । रामायण में घरेलू जीवन के आदर्श, आदर्श पत्नी, भाई, मित्र, भगत आदि उपस्थित किये गये हैं । महाभारत में महत्वपूर्ण राजनीतिक सामग्री है । इसमें उस युग के गणों (रिपब्लिक) का उल्लेख है जिनमें बहुसंख्यक वर्ग प्रभुसत्तासम्पन्न होता था । इसमें गणों के संघ (संघातसंघ) की भी चर्चा है । गण को संघ भी कहते थे, जैसे वृष्णि-संघ । कृष्ण को संघातगण का 'संघ-मुख्य' कहा गया है ।

ग्रामीण प्रशासन १०, २०, १०० से लगाकर १००० तक ग्रामों के संघों के अध्यक्षों (मुनियों) की परम्परा द्वारा व्यवस्थित था । राज्य की ओर से कुल, जाति श्रेणी (दस्तकारों का संघ) पूरा (विभिन्न जातियों और दस्तकारों का संघ अर्थात् पूरा ग्रामसमाज), जनपद (समूचा प्रान्त अथवा प्रदेश) आदि संस्थाओं द्वारा जनता के प्राकृतिक सम्मेलनों की प्रोत्साहन मिलता था । ये संस्थाएँ स्वायत्त होती थीं और अपने नियम स्वयं निर्धारित करती थीं जिन्हें राज्य भी स्वीकृति प्रदान करता था ।

महाभारत में गणतंत्रों की दुर्बलताओं और उनकी आन्तरिक भेद की प्रवृत्तियों का भी उल्लेख मिलता है ।

पाणिनि को निम्नलिखित प्रशासनिक विभागों का ज्ञान था (१) ग्राम (२) नगर (३) विषय (जिला) (४) जनपद (राष्ट्र) । इनमें एक के बाद दूसरा अधिक विस्तृत था । पाणिनि को गण या संघ ; जैसे कालीन 'मालव संघ' का भी ज्ञान था । उस काल में गणों के संघ भी थे जैसे 'अन्धक-वृष्णि-संघ' । गणतंत्र में इन्हीं का अनिवार्य विधान था । दल को 'वर्ग' कहते थे । नेता के नाम के अनुसार 'वर्ग' का नाम होता था जैसे 'वासुदेव-वर्ग' । कभी-कभी गण अपनी सेनाएँ मिला लेते थे जैसे 'क्षत्रक-मालवी-सेना' ।

आचार्यों के प्रति विद्यार्थियों की भक्ति उनकी अपने-अपने आचार्यों के नाम के अनुसार अभिहित करने की प्रवृत्ति से परिलक्षित होती है । जैसे पाणिनीय (पाणिनि के विद्यार्थी) ।

वैदिक शाखाओं को 'वरण' कहते थे । उनमें कन्याएँ भी परिष्कृत हो सकती थीं । उदाहरण के लिए वेद की कठ शाखा में अध्ययन करने वाली कन्या या स्त्री को 'कठी' कहते थे । ये कन्याएँ अथवा स्त्रियाँ अपने अलग छात्रावासों में रहती थीं जिनको 'छात्रीशाला' कहते थे ।

पाणिनि के काल में कार्षीज, निष्क, पण, पाद, मास और पाण्य (एक प्रा० भा०—३)

छोटा तामे का सिक्का) नामक मुद्राएँ प्रचलित थीं।

विज्ञान की साधना का प्रतीक पाणिनि का व्याकरण है जो इस विषय की महत्वपूर्ण कृति है। इसका परिचय वेदांग नामक सूत्रों में भी मिलता है, जिनमें निम्नलिखित विषय शामिल हैं : (१) शिक्षा (व्यनिशास्त्र), (२) कल्प (वैदिकउपचार), (३) व्याकरण (शब्दशास्त्र), ज्ञान-विज्ञान (४) निरुक्त (व्युत्पत्तिशास्त्र), (५) छन्द (छन्दशास्त्र) और (६) ज्योतिष (ज्योतिषशास्त्र)। इनमें (१), (३) (४) और (५) भाषाशास्त्र के विभिन्न पक्षों से संबंधित हैं। (४) की प्रसिद्ध कृति 'शास्त्र' का निरुक्त है। (६) का विषय भौतिक विज्ञान है। (२) से तीन कलाओं के मूल साहित्य की उत्पत्ति हुई है। यह उल्लेखनीय है कि 'सूत्र' शब्द स्वयं वैज्ञानिक गद्यावली के विकास की प्रगति का प्रतीक है जिसका आदर्श थोड़े शब्दों में अधिक भावों की अभिव्यक्ति है। इस शैली का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन पाणिनि के सूत्र हैं। इनमें वैदिक मंत्रों की शैली है जिसमें अकेले 'ओइम' शब्द में जिज्ञासुओं के लिए विस्तृत अर्थ-जगत् प्रच्छन्न है।

सूत्रों में उनका वर्णन है। जीवन के मोड़ों पर उनका अनुष्ठान आवश्यक है। प्रत्येक उपचार में आध्यात्मिक महत्व प्रच्छन्न है जिसे भूलना नहीं चाहिए।

उपचार

उदाहरण के लिए उपनयन का अर्थ शिक्षा द्वारा नया जन्म है और विवाह एक अटूट पारिवारिक संबंध और साहचर्य है। सूत्रों में सामान्य उपचारों का वर्णन है जिनका प्रचार प्रायः सब जगह था। उन्हें पंच-महायज्ञ कहते हैं। उनमें (१) देव (देवयज्ञ), (२) पितृ (पितृयज्ञ), (३) ऋषि (ऋषियज्ञ), (४) नर (नृयज्ञ) और (५) जीवन (भूतयज्ञ) संबंधी उपचार संघटित हैं। विभिन्न यज्ञों का अभिप्राय व्यक्ति के समष्टि में अधिकाधिक प्रवेश करने की प्रक्रिया को व्यक्त करता है जो धर्म के उत्कृष्टतम आदर्श के रूप में समस्त-भूत-जगत् के साथ एकत्व और साक्षिण्य की अनुभूति में विकसित होती है।

सूत्रों में सामाजिक विधान के अपने निराले सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार समाज की व्यवस्थाओं के अनुकूल स्थूलरूप से चार भागों में बांटा जाता है। ये भाग श्रम में जाति या वर्ण के रूप में कड़े हो जाते हैं। प्रथम भाग ब्राह्मणों का है जो विद्या और शिक्षा का कार्य सम्भालते हैं। उन्हें सांसारिक जीवन से दूर तटस्थ वातावरण में वैराग्य की भावना से अनुप्राणित होकर एकाग्र चिन्तन द्वारा विद्या और ज्ञान को बढ़ावा देना और उन्हें सम्पन्न करना पड़ता है और फिर अपने जीवन द्वारा उन सत्यों का प्रसार करना पड़ता है। देश की संस्कृति की रखा एक बहुत बड़ा दायित्व था।

वर्णाश्रम-

धर्म

छठवाँ अध्याय

उत्तरी भारत

(६५० ई० पू०—३२५ ई० पू०)

इस युग में जैनधर्म और बौद्धधर्म नामक दो महान् धर्मों का अन्वुदय हुआ। जैनधर्म का संस्थापक वर्धमान महावीर था। जैन परम्परा के अनुसार उससे पहिले २३ आचार्य या तीर्थंकर और हुए जिनमें सब से पहिला अधम और जैन धर्म अन्तिम पार्श्व था।

महावीरजातुकों के अधिपति का पुत्र और लिच्छवी-मुख्य चेटक का भतीजा था। उसके पिता ने लोकमंगल के कार्यों द्वारा उसका जन्मोत्सव मनाया : कर, चुगी और जव्ही माफ की गई, लोगों के घरों में पुलिस का घुसना रोका गया और बन्दी मुक्त किए गये। ३० वर्ष तक वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के अनन्तर उसने संसार का परित्याग किया और १२ वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् निर्वाण प्राप्त करके 'जिन' और 'केवली' का पद प्राप्त किया। तत्पश्चात् उसने चम्पा, वैशाली, राजगृह, नालन्दा, मिथिला, लाङ (राड़) आबस्ती और पावा, जहाँ उसका निधन हुआ, आदि स्थानों पर घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार किया। उसके जीवनकाल का एक तिक्त अनुभव यह था कि उसके साथी गोशाल के साथ उसका विरोध हो गया जिसके फलस्वरूप उसने महावीर के धर्म के विपरीत अपना एक अलग सम्प्रदाय खड़ा कर दिया। उसके निधन पर तात्कालिक ३६ गणतंत्रों ने सामूहिक रूप से जो दीपावलि मनाई उससे उसकी





उपदेश मुद्रा में बुद्ध की एक प्राचीन मूर्ति

स्वाति का पता चलता है।

जैन सिद्धान्त कर्म और इसके परिणाम आवागमन में विश्वास करता है। आवागमन को कर्म-क्षय द्वारा रोका जा सकता है। इच्छाओं के निग्रह से कर्म का अन्त होता है। इच्छाओं का निग्रह, व्रत, समिति जैन सिद्धान्त (अन्वासा) और गुप्ति (नियन्त्रण) द्वारा सम्भव है।

परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रमादित्य के जन्म से ४७० वर्ष पूर्व हुआ। विक्रम के जन्म से १८ वर्ष बाद ५८ ई० पू० में विक्रम-संवत् जारी हुआ। इस प्रकार वीर निर्वाण ४७० + ५८ + १८ = ५४६ वीर-निर्वाण ई० पू० में हुआ। बौद्ध परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण बुद्ध के परिनिर्वाण से पहले हुआ। बुद्ध निर्वाण की तिथि ५४३ ई० पू० है।

बौद्ध धर्म का संस्थापक गौतम राजकुमार था। वह शाक्यों के मुख्य झुंडोदन का पुत्र था। परम्परा के अनुसार ६२४ ई० पू० में कपिलवस्तु नामक स्थान पर लुम्बिनी वन में, जहाँ अशोक ने एक स्तम्भ खड़ा कर गौतम बुद्ध उस पर यह लेख खुदवाया कि यहाँ 'बुद्ध शाक्यमुनि' का जन्म हुआ, तथागत का आगमन हुआ था। इस बात की भविष्य-वाणी की गई कि वह संन्यास लेगा। उसके पिता ने भोग-विलास की सामग्री से उसके जीवन को परिवृत्त करके इस बात को रोकने की चेष्टा की। किन्तु बालक गौतम का मन जीवन की अनिवार्य विभीषिकाओं, जैसे रोग, बरा और मृत्यु को देखकर इतना द्रवित हुआ कि जीवन में उसकी समस्त शक्ति समाप्त हो गई। १६ वर्ष की आयु में उसका विवाह हुआ। २९ वर्ष की आयु में जब उसकी पहली सन्तान (पुत्र) उत्पन्न हुई तो उसे ऐसा लगा कि उसके लिए बन्धन तैयार हो गया है। अतः उसी अर्धरात्रि में उसने वच्चे को अपनी छाती से चिपकाये हुए अपनी पत्नी को छोड़कर मूहत्याग किया। वह अपने प्रिय सार्देस छत्र को साथ लेकर अपने घोड़े कन्वका पर चढ़कर कपिलवस्तु से बाहर निकल गया। सूर्योदय के समय अनामा नदी पर पहुँच कर उसने अपने बाल कटवा दिए और भिक्षुओं का कापाय वस्त्र धारण कर लिया।

इस राजकुमार के लिए संन्यासी जीवन सरल नहीं था। भिक्षुओं जैसा भोजन करने पर उसे ऐसा लगा कि उसका पेट फलटा जा रहा है और उसकी आँतें बाहर निकली जा रही हैं। उसने बताया है कि नीरवता में रहना और आनन्द लेना और वहाँ के भय पर विजय पाना कितना कठिन है।

सत्य की लोज के लिए उसे गुरु ढूँढना था। राजगृह के निकट उसे आलार मिला, जो ध्यान में इतना निमग्न था कि 'सड़क पर बैठे हुए वहाँ से जाती हुई

५०० गादियों की गड़गड़ाहट भी उसे सुनाई न दे सकी।' दीर्घ ही उसने अपने शिष्य को अपना सम्पूर्ण उपदेश दे दिया। इसके बाद उसे दूसरे गुरु की तलाश हुई। उदक रामपुत्र को उसने अपना दूसरा गुरु बनाया।

इसके बाद वह तपश्चर्या करने के लिए जैन-शास्त्रों के अनुसार उरुवेला नामक ग्राम में बैठ गया। उसका शरीर स्वच्छ और अस्थि-मात्र रह गया। उसका भोजन बहुत सूक्ष्म था। पत्तों का रस या हथेली-भर दाल ही उसके जीवन-साधन का साधन था। वह तपश्चर्या के भार को सहन नहीं कर सका और अचेत हो गया। अतः उगने अधिक भोजन लिया। इस पर उसके साथी पाँच ब्राह्मण, जो उसकी वृद्धत्व-प्राप्ति की आशा से उसके साथ रहते थे, उसे छोड़कर चले गये। तब वह अकेला ही बौद्ध का मार्ग ढूँढता रहा और बुढ़ गया में बौद्ध-चक्र के नीचे छः वर्ष के अनुसन्धान के पश्चात् ३५ वर्ष की आयु में उसे प्राप्त करने में सफल हुआ। उसका ध्यान और भजन इतना गम्भीर और एकाग्र था कि युगपत् सौ बिजलियों के गिरने से भी भग नहीं हो सकता था।

अनन्तर ज्ञान प्राप्त करने के बाद वह सुपाय शिष्यों की खोज में रहा जो उसे श्रृंखल कर सकें। उसका ध्यान उन पाँच ब्राह्मणों पर गया जो उसके साथ रहते थे और उसे छोड़कर चले गये थे और तब से सारनाथ में इसिपत्तन में रहते थे। बुढ़ बोध गया से चलकर सारनाथ पहुँचा और उन्हें 'धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र' का उपदेश दिया,

जिसमें उसने चार आर्यसत्य—अर्थात् (१) दुःख, (२) इसका कारण (समुदय या तृष्णा), (३) इसका निरोध, और (४) इसका मार्ग (प्रतिपदा)—की व्याख्या की। उसके अनुसार दुःख के कारण के निरोध का मार्ग 'मध्यमा प्रतिपदा' है जिससे मनुष्य भोग और तप की सीमाओं को छोड़कर कृत्रिम मार्ग अपनाता है। यह मार्ग 'आर्याष्टांगिक मार्ग' कहलाता है। ये आठ मार्ग हैं : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् आजीव, सम्यक् कर्म, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

इसके बाद बुढ़ की श्रमपूर्ण परिचर्या प्रारम्भ हुई जिसके सिलसिले में उसने पूर्वी भारत के सब प्रसिद्ध स्थानों की यात्रा की। उसके चारों ओर अनेक आबक, भिक्षु और उनके नेता एकत्रित होने लगे। इनमें वाराणसी का साहूकार गण और उसके ५० अनुयायी, १,००० भिक्षुओं का जटिल संघ और उसका नेता कस्सप, जिसने उरुवेला में उसका धर्म स्वीकार किया था, सारिपुत्र और मोग्गल्लान नामक दो पुरोहित और २५० भिक्षुओं का संघ का दल शामिल थे।

इन अनेक लक्ष्यों के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से मगध में सतसती फैल गई

और लोग इस बात की शिकायत करने लगे कि श्रमण जीवन वैयर्थ्य, निःसन्तानता और परिवार-समाप्ति का प्रचार करता है। उन्होंने कपिलवस्तु जाकर अपने पुत्र राहुल और लचरे भाई नन्द को, जो अपने माँ-बाप का इकलौता पुत्र था, अपने संप में दीक्षित किया। उसके श्रमण बन जाने पर उसके पिता का कोई वारिस नहीं रहा। मगधरा के कहने पर राहुल ने अपने पिता बुद्ध से अपना दास साँगा। उत्तर में बुद्ध ने राहुल को भी भिक्षु बना कर बौद्ध संप में प्रविष्ट करा दिया। यह एक आध्यात्मिक साम्राज्य का दास था।

इसके बाद अन्य स्थानों पर अनेक लोगों को दीक्षा मिली। इनमें अनुरोध, उपासि और राजगृह के निकट के एक गाँव का निवासी आनन्द प्रमुख थे। आनन्द ने परम भक्ति के साथ बुद्ध के वैयक्तिक परिचारक के रूप में उनके साथ रह कर उनकी सेवा की।

श्रावस्ती में उसने वहाँ के जनकुवेर सुवत्त अनायासिकदक को दीक्षा दी। उसने बुद्ध के संप के लिए राजकुमार जेट से १८ कौटि स्वर्णमुद्राओं से उसके उद्यान की भूमि को छँककर और इस प्रकार उसकी मृदुमाँगी कीमत देकर जेतवन खरीदा। भरहुत की खुदाई में इस महादान का अंकन है। इसमें चौकोर मुद्राओं से भरे एक छकड़े की चित्रित किया गया है और उनसे छँकी हुई भूमि दिखाई गई है।

बुद्ध की शिक्षा-दीक्षा के प्रमुख केन्द्र राजगृह, श्रावस्ती, कोषाम्बी और वैशाली के विहार थे।

बुद्ध ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक यात्रा की और भ्रमोपशेष किया। उसने आनन्द को कहा "मैं बुद्ध, दुर्बल और श्रान्त हूँ, मैं यात्रा के अन्त और

बुद्ध की

महानता

जीवन की सीमा पर पहुँच चुका हूँ। मेरी आयु ८० वर्ष है।" (समुत्तनिकाय पृ० १५२-५४)। उसने यह भी कहा "जब से तीन सहस्रों के बाद तथागत का परिनिर्वाण होगा" (यही २५८-६३)। अस्सीवें वर्ष में पावा में वे जब कुछ सामान्य कर्मकार के अतिथि थे, बीमार पड़े। रोग पर निर्वरण प्राप्त कर वे कुशीनारा के शालवन तक पहुँच गये जहाँ उन्होंने अन्तिम बार आराम किया। अपना अन्त अधिकृत ज्ञान उन्होंने अपने शिष्यों को यह अन्तिम उपदेश दिया, "भिक्षुओं! अपने दीपक स्वयं बनों, अपनी शरण स्वयं बनों, किसी बाह्य शरण की मत खोजो। मेरे जाने के बाद संध के विनय और सूत्रों को अपना गुरु मानो।"

बौल्टनबां ने बुद्ध के ४५ वर्ष के जीवन और चर्चा का वर्णन इस प्रकार किया है—“उस समय जब उसकी स्थाति परम सीमा पर पहुँच चुकी थी और उसका नाम भारत भर में अवगम्य था यह दैनिक दृश्य देखने को मिलता था कि वह

मनुष्य, जिसके सामने राजाओं का सिर झुक जाता था, हाथ में भिजापात्र ले कर सड़कों पर घर-घर घूमता था और नीचे दृष्टि किए हुए, बाणी में बिना शब्द निकाले, चुपके चुपके लड़ा प्रतीक्षा करता था जब तक कि लोग उसके पात्र में कुछ भोजन न डाल दें।"

इस प्रकार बड़े नैसर्गिक और प्राकृतिक रूप से साधारण मनुष्य की तरह जीवन बिताता था और ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करता था जिससे मनुष्य सम्पत्क दृष्टि और संकल्प द्वारा जीवन की सामान्य परिस्थितियों से ऊपर उठकर देवता के स्तर तक पहुँच सके। उसने परिपक्व जीवन में राजकीय भोग-विलास को तिलांजलि देकर, देवत्व का दावा किए बिना, अदालत, शिष्यों, अधिकारियों और भिक्षुओं को सदैव पूर्ण विष्वस्तता के साथ यह पाद धिलावा 'परीक्षाचक्षुष्य धातुं सद्यो न तु गौरवे वा' (तुम मेरे वचन को मेरे प्रति अज्ञा के भाव से ग्रहण मत करो वरन् इसके आन्तरिक महत्व के कारण सूक्ष्म परीक्षा करके अपनाओ)। उसके अंतिम शब्द ये थे कि उसने जिन सत्तों और तथ्यों की शिक्षा दी है वे ही गुरु तुम्हें हैं।

उत्तर भारत के तात्कालिक राजनीतिक इतिहास पर जैन और बौद्ध ग्रन्थों और पुराण आदि संस्कृत ग्रन्थों से प्रचुर प्रकाश पड़ता है। उस समय उत्तरी

राजनीतिक इतिहास

भारत बहुत से राज्यों में विभक्त था जिन्हें महाजनपद कहते थे और जिनकी संख्या १६ थी। पालि ग्रन्थ 'अगुत्तरनिकाय' में उनकी गणना इस प्रकार की गई है—(१) अंग (पूर्वी

बिहार), जिसकी राजधानी चम्पा थी, (२) मगध (दक्षिणी बिहार), (३) काशी, (४) कोशल (अवध) (५) वज्जी (उत्तरी बिहार), (६) मल्ल (गोरखपुर जिला), (७) चेटी (चेदी, यमुना और नर्मदा के बीच), (८) वस (वस) (इलाहाबाद प्रदेश), (९) कुश (बानेसर, देहली और मेरठ जिले), (१०) पांचाल (बरेली, बदायूँ और फर्रुखाबाद जिले), (११) मच्छ (मत्स्य) (जयपुर), (१२) पुरुसेन (मथुरा), (१३) अस्मक (अश्मक) (गोदावरी नदी पर स्थित जिसकी राजधानी पोतन, प्रतिष्ठान—पैठान थी), (१४) अवन्ती जिसकी राजधानी माहिस्सति—माहिष्मती थी, (१५) गन्धार, पाकिस्तान के पेशावर और रावलपिण्डी जिले, और (१६) काम्बोज (दक्षिण-पश्चिमी कश्मीर और काश्गिरिस्तान के कुछ भाग)। कुछ ग्रन्थों में इन सोलह राज्यों के अतिरिक्त (१७) कलिङ्ग (जिसकी राजधानी दन्तपुर थी), (१८) सांधीर (जिसकी राजधानी रोहक थी) और (१९) विदेह (जिसकी राजधानी मिथिला थी) का भी उल्लेख मिलता है। जैन ग्रन्थ 'भगवतीसूत्र' में मालव, कोष्ठ (कच्छ) पाण्ड (गुज्ज) लाट (बंगाल में राज) और मोली (मल्ल) का जिक्र है। ये राज्य



नालन्दा से प्राप्त कसि की बुद्ध-मूर्ति

बहुत छोटे थे ।

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि देश इतने छोटे राज्यों में विभक्त था । इस विभाजन का अर्थ देश का पृथक्-पृथक् टुकड़ों में विघटन नहीं था । ये भारतीय विचारधारा और समाजपद्धति के समान सांस्कृतिक बंधन से परिवद्ध थे । राजनीतिक दृष्टि से वे पृथक् राज्य थे किन्तु वे भारतीय शासनपद्धति के समान ढाँचे के अन्तर्गत थे जो सत्ता के विकेन्द्रीकरण और स्वयंशासित संस्थाओं के रूप में जनता के स्वाभाविक वर्गीकरण के द्वारा स्थानीय स्वायत्तता की रक्षा पर अवलम्बित था, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है ।

इन राज्यों में निम्नलिखित प्रमुख हो गये—(१) अवन्ती, (२) वत्स, प्रमुख राज्य (३) कौशल और (४) मगध ।

यह पालि ग्रन्थों में वर्णित षण्ठ पञ्चोत्त (प्रद्योत) महासेन के राज्यकाल में प्रसिद्ध हो गया जो अपनी कूरता के लिए बदनाम था । अपने पुरोहित महाकच्चायन के प्रभाव के कारण उसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया । अवन्ती इसके बाद अवन्ती महाकच्चायन, धम्मपाल और सीत आदि आचार्यों के कारण बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया । उन्होंने प्रचलित लोकनाथा में धर्म प्रचार किया जो पालि भाषा का मूल बनों और मागधी से मिले था ।

यह राज्य राजा उदयन के राज्यकाल में प्रसिद्ध हो गया । इसकी राजधानी कौशाम्बी थी । परम्पराओं के अनुसार प्रद्योत की पुत्री राजकुमारी वासवदत्ता, (२) मगध की राजकुमारी पद्मावती, (३) अंग वंश (वत्स) की राजकुमारी और (४) वासवदत्ता की सेविका सागरिका से उसका प्रेम-संबंध था । अन्त में उसे बोधिताराम बिहार के भिखू पिण्डोल ने बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया । कौशाम्बी और उसके अनेक बिहार बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र थे, जहाँ बुद्ध ने धर्मोपदेश किया । यह उल्लेखनीय है कि कौशाम्बी से प्राप्त एक शिलालेख में बोधिताराम के बिहार का उल्लेख मिलता है ।

राजा प्रसेनजित के राज्यकाल में कौशल प्रसिद्ध हो गया । प्रसेनजित बुद्ध का अनुयायी और उसकी अवस्था का था । उसने कार्सी को अपने राज्य में मिलाया किन्तु अजातशत्रु के राज्यकाल में मगध से उसका कौशल संघर्ष हुआ । उसके पापी पुत्र विडूढम ने जो निरीह शाक्यों की हत्या के कारण कुम्पात था अपने दुष्ट साधियों के साथ मिलकर उसे गद्दी से उतार दिया । किन्तु विडूढम और उसके साथी आचर्यों में बाढ़ से बह गये ।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार हर्षक वंश के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु के राज्यकाल में मगध एक शक्तिशाली सत्ता थी। किन्तु पुराणों में शिशुनाभ द्वारा संस्थापित एक भिन्न वंश को इसकी महानता का श्रेय दिया गया है। इतिहासकार बौद्ध साक्ष्य पर अधिक बल देते हैं, जिसका अनुसरण यहाँ किया गया है।

बिम्बिसार (६०३-५५१ ई० पू०) ने राजनैतिक महत्त्व के वैवाहिक संबंध स्थापित किए। उसने कोशल राजकुमारी, लिच्छवी मुख्य की पुत्री और वैदेही राजकुमारी वासवी से विवाह किया। उसके अनेक पुत्र थे जिनमें कुशीक अजातशत्रु प्रसिद्ध हुआ।

उसकी राजधानी गिरिध्वज थी जो पाँच दीवारों से सुरक्षित थी। इसकी बड़ी-बड़ी दीवारें आज तक खड़ी हैं और प्राचीनतम भारतीय पाषाण स्थापत्य का निदर्शन प्रस्तुत करती हैं। बाद में राजधानी राजगृह पहुँचाई गई जिसकी योजना महागोविन्द नामक स्थापति ने बनाई थी।

बिम्बिसार ने अंग और उसकी राजधानी चम्पा पर विजय प्राप्त करके अपने राज्य का विस्तार किया। उसने कुशीक को वहाँ का राज्यपाल नियुक्त किया। उसके राज्य में ८०,००० गाँव थे जिनका क्षेत्रफल उसका राज्य ३०० लीग था और जो उसके पुत्र अजातशत्रु की विजय के पश्चात् ५०० लीग और बढ़ गया था।

उसके प्रमुख कर्मचारी महामात्र कहलाते थे। राज्य शासन की चलाने वाले कर्मचारियों को 'सर्वासक' कहते थे। न्यायाधिकारी 'व्यामहारिक' कहलाते थे और सेनापति की उपाधि 'सेनानायक' थी। ८०,००० ग्रामों के मुखिया परिषद् में आकर इकट्ठे हुआ करते थे।

बिम्बिसार आरम्भ में जैन था। उसने महावीर से प्रार्थना की थी कि 'उसके देश की सबी के संकट से बचाने का आशीर्वाद दे।' उसने अपनी पुरानी राजधानी गिरिध्वज में मौतम के दर्शन किए और जब वह बुढ़ होकर अपने शिष्य कस्तप-बन्धुओं और उनके साथ रहने वाले १००० जटिलों के समूह के साथ राजगृह पहुँचे तो फिर उनका साक्षात्कार किया। ओषीय बिम्बिसार तुरन्त उनका शिष्य बन गया और राजमहल में समस्त संघ को निर्मजित करके अपने हाथों से भोजन परोसा। उसने बुढ़ को बेलवन नामक अपना प्रसिद्ध उद्यान दान कर दिया जिससे तत्पश्चात् वहाँ ध्यान-मनन कर सकें। अपने राजवैद्य जीवक को उसने तत्पश्चात् और संघ की परिचर्या-चिकित्सा के लिए नियुक्त किया।

बौद्ध परम्परा के अनुसार बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने उसकी हत्या की और बाद में बुद्ध की शरण में जाकर शोध प्रकट किया। किन्तु जैन किंवदन्ती यह है कि उसने बन्दीगृह में, जहाँ उसे अजातशत्रु ने डाक उसका अन्त रक्खा था, स्वयं आत्महत्या कर ली।

वह एक योद्धा नरपति था और अपने राज्य के प्रसार में दत्तचित्त था। अजातशत्रु उसने पहिले प्रसेनजित के राज्यकाल में कोशल पर चढ़ाई (लगभग ५५१- की। वहाँ के राजा ने उसके साथ अपनी कन्या का ५१९ ई०पू०) विवाह करके शान्ति स्थापित की।

उसके बाद उसने मग्रा के उस पार लिच्छवियों से युद्ध छेड़ दिया। यह युद्ध लम्बा था क्योंकि लिच्छवी जैसे गणतंत्र को जिसकी शक्ति सर्वोत्तम जनतंत्र की परम्पराओं पर आधारित थी, जीतना कोई सरल काम लिच्छवि-युद्ध नहीं था। इस गणतंत्र में लोगों की "परिषदे पूर्ण रहती थीं और वारम्बार हुआ करती थीं, नीति और सम्मति की एकता थी, प्राचीन परम्पराओं और संस्थाओं की रक्षा होती थी, बूढ़ों, स्त्रियों और सन्नासियों का आदर होता था", जैसा कि बुद्ध का विचार था। अतः इसकी आन्तरिक एकता सुदृढ़ थी।

अजातशत्रु को ऐसे शत्रुओं से लड़ने के लिए काफी तैयारी करनी पड़ी। उसने पहिले नदी के किनारे एक नयी राजधानी बनाई जहाँ से बुद्ध का संचालन किया जा सकता था। इस प्रकार पाटलिपुत्र की नींव रखी गई जिसके भाषी नागरिक और व्यापारिक महत्व की भविष्यवाणी स्वयं बुद्ध ने की। इसके बाद उसने गणतंत्र के नागरिकों की एकता के नैतिक आधार को नष्ट करने के लिए निकृष्ट उपाय अपनाये और उनमें भेद उत्पन्न किया। इस काम के लिए उसने अपने मंत्री वस्सकार को वैशाली में नियुक्त किया। उसकी योजना सफल हुई और बुद्ध के समय लिच्छवी सैनिकों में इस बात पर फूट पड़ गई कि आगे लड़ने के लिए कौन जाय। अन्त में अजातशत्रु ने रघुमूसल नामक उत्कृष्ट युद्ध-यंत्र का प्रयोग करके लिच्छवियों को परास्त किया।

उसे राजगृह में अपने राज्य की दूसरी सीमा की किलाबन्दी को मजबूत करना पड़ा जिससे वह अन्ती के राजा प्रद्योत के आक्रमण को रोक सके जो उसकी बढ़ती हुई शक्ति से ईर्ष्या करता था।

पहिले वह जैन धर्म को और प्रवृत्त था और वैशाली और चम्पा में महावीर से मिला। तत्पश्चात् के अपराध से शान्ति पाने के लिए उसने गोशाल आदि धर्मियों की भी शरण ली, किन्तु यह व्यर्थ रहा। बाद में वह बुद्ध और उसके संध से मिला और उनकी शान्ति और

ध्यान की एकाग्रता से बड़ा प्रभावित हुआ। भरहुत की मूर्तियों में राजा को अपने अनुयायियों के साथ बुद्ध को नमस्कार करते हुए दिखाया गया है। इस पर 'अज्ञातभक्तु भगवतो बन्दते' यह लेख अंकित है। कुशीनगर में बुद्ध के निर्वाण के बाद वह शीघ्रता से उसके अनुयायी के रूप में उसके अवशेषों का भाग प्राप्त करने के लिए, जो महाकस्तप के पास थे, उस स्थान पर पहुँचा।

उन्में से बहुत से केवल नाममात्र हैं जिनका कोई इतिहास नहीं मिलता।

उसका उत्तराधिकारी उदापीन्द्र था जो (लगभग ५१९-५०३ ई० पू०) में चम्पा का उपराजा था और जिसने कुसुमपुर नामक नगर का निर्माण कराया था।

अज्ञातभक्तु के उत्तराधिकारी उसका अग्रपुत्र के राजा पालक के साथ बराबर युद्ध रहीं।

उत्तराधिकारी पालक के एक एजेन्ट ने उसकी हत्या की। उसके अन्य उत्तराधिकारी अनुवृद्ध, मण्ड और नामदासक थे जिसकी पहचान पुराणों में वर्णित राजा दर्शक (लगभग ४९५-४७१ ई० पू०) से की जाती है।

उसके बाद सुसुनाग (लगभग ४७१-४५० ई० पू०) गद्दी पर बैठे। पुराणों में उसे शिशुनाग कहा गया है और उसे विम्बिसार के पूर्ववर्ती के रूप में वंश का प्रतिष्ठापक बताया गया है। किन्तु बौद्ध परम्परा अधिक विश्वसनीय है और यहाँ उसी का अनुसरण किया गया है। सुसुनाग ने 'अमात्य' बन कर काम शुरू किया। बाद में पौरजानपद ने उसे राजपद पर अभिषिक्त किया।

उसके बाद कालाशोक (लगभग ४५३-४२५ ई० पू०) ने राज्य किया। कालाशोक के बाद उसके इस लड़के गद्दी पर बैठे और उन्होंने ४०० ई० पू० तक मिलकर राज्य किया।

बाण ने हर्षचरित में यह कथा लिखी है कि शिशुनागी काकवर्गी को एक हत्यारे ने मार दिया था। सिकन्दर के आक्रमण के एक पुनानी लेखक ने यह लिखा है कि वह हत्यारा राणा का प्रेमी एक नाई था। उसने काकवर्गी कालाशोक के सब पुत्रों का वध करके स्वयं राज्य छीन लिया।

पालि ग्रन्थ महाबोधिवस में कालाशोक के अन्तिम दो पुत्रों का नाम नन्दि-वर्धन और पंचमक बताया गया है। पुराणों में उसे महानन्दी कहा गया है। उस समय से पुराणों का साक्ष्य अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।

पुराणों में राज्य को हड़पने वाले इन राजाओं को नन्दवंशीय कहा गया है। उनके अनुसार इस वंश का प्रथम राजा महापद्म था जो अन्तिम शिशुनाग राजा

महानन्दी का शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न पुत्र था। अतः नन्द-राजाओं को शूद्र कहा जाने लगा। किन्तु पुनानी कथा के अनुसार उसका पिता शूद्र था और उसकी माता एक भ्रष्टा-

चारिणी क्षत्रिय राजा थी। जैन परम्परा के अनुसार प्रथम नन्दराजा गणिका के गर्भ से उत्पन्न नाई (भाषितदास) का लड़का था। इस प्रकार उसके माता-पिता दोनों भ्रष्ट बताए गये हैं।

बौद्ध परम्परा में इससे भिन्न कथानक मिलता है। इसके अनुसार प्रथम नन्द उप्पसेन था जो 'प्रत्यन्तवामी' अर्थात् सीमा प्रान्त का रहने वाला था और अपने भाइयों के साथ डाकूती का काम करता था जिससे वे 'बोर-पुब्बा' कहलाए। उसने मगध के राजा को जबरदस्ती निकाल बाहर किया। इस कथा में नन्द राजाओं की उत्पत्ति को भ्रष्ट अवस्था हीन नहीं बताया गया है।

पुराणों और जैन और बौद्ध ग्रन्थों में नौ नन्दों की चर्चा है। पुराणों में पिता और उसके आठ पुत्र नौ नन्द कहलाते हैं किन्तु अन्य परम्पराओं के अनुसार नौ नन्द आपस में भाई थे। ये तीनों परम्पराएँ इस बात पर सहमत हैं कि नन्द राजाओं की संख्या नौ थी।

महाबोधिवंश में नौ नन्द राजाओं के नाम दिए गये हैं। सब से पहिला उप्पसेन था और अन्तिम का नाम धननन्द था। इन भाइयों ने अवस्था के अनुसार एक दूसरे के बाद राज्य किया।

यूनानी लेखकों ने अन्तिम नन्द राजा का नाम अग्रानेस (कटियस) अथवा जन्द्रावस (दियोघोरस) — संस्कृत चन्द्रमस, जिला है, जो एफ० डब्ल्यू० टॉमस के मतानुसार धननन्द का वैयक्तिक नाम था (किन्त्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १)। उनके लिखे अनुसार अग्रानेस का पिता नाई था।

अब हम पुराणों के अनुसार नन्दवंश की चर्चा करते हैं। उनमें नन्दराजाओं की अधार्मिक कथा गयी है। प्रथम नन्द को महापद्मपति बताया गया है। इस नाम से उसके अतुल धन अथवा विलास सेना का संकेत मिलता है जिसकी सहायता से उसने अपने युग के सभी क्षत्रिय राज्यों को—पांचाल, काशी, कलिंग, अदमक आदि को जीत कर एकराट् अथवा एकछत्र का पद प्राप्त किया था।

कलिंग के राजा शारवेल के हार्थीमुष्ता के शिलालेख से नन्द राजा की कलिंग-विजय का प्रमाण मिलता है। इसमें उसने नन्दराजा का उल्लेख किया है जिसने वहाँ डल-बाँध बनवाया था और जो वहाँ से विजय के चिह्न के रूप में जिन-मूर्ति अथवा जिन-पद-चिह्न मगध उठा ले गया था।

यूनानी लेखकों ने उसे गग्नारिदे (गंगा की उपत्यका के निवासी) और प्राप्ती (प्राच्य या पूर्वी प्रदेश के निवासी) का राजा बताया है और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र बताई है।

बौद्ध ग्रन्थों में उसे धननन्द कहा गया है जिससे उसकी धन-सम्पत्ति का उल्लेख मिलता है। उसने यह धन उपणता से या प्रजा पर भारी कर लगाकर

इच्छा किया था।

मैंने इस ग्रन्थ में जो कालक्रम अपनाया है उसके अनुसार प्रथम नन्द राजा ने ४०३ ई० पू० में राज्य किया। उस समय उसकी आयु २० वर्ष रही होगी। इससे प्रकट होता है कि उसका जन्म ४२३ ई० पू० में हुआ होगा। पुराणों के अनुसार सब नन्दराजाओं ने १०० वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार वे ४२३ ई० पू० से ३२३ ई० पू० तक गद्दी पर रहे। यह तथ्य उनके बाद राज्य करने वाले मौर्यों के कालक्रम से भी प्रतिपादित हो जाता है। इस प्रकार पौराणिक कालक्रम और मौर्यकाल के सुनिश्चित कालक्रम की संगति बैठ जाती है।

इन गणतंत्रों के अतिरिक्त पूर्वी और बौद्ध भारत में गणतंत्रों का भी पर्याप्त विकास हुआ था। जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में तात्कालिक पूर्वी भारत के इन गणराज्यों का उल्लेख मिलता है : (१) वज्जी-विदेहपुत्र, (२) मल्लकी, (३) नौ लिच्छवी और (४) काशी-कोशल प्रदेश के १८ राज्य। इस प्रकार उनकी कुल संख्या ३६ थी।

बौद्ध ग्रन्थों में निम्नलिखित गणतंत्रों का वर्णन मिलता है :

इन सभी गणतंत्रों में लिच्छवि गणतंत्र अग्रगण्य था। इसकी जनसंख्या ३,६८,००० (८४,००० की दुगुनी) थी और इसकी राजधानी वैशाली में थी जिसके २ भाग थे (१) अन्तर या नगर का मुख्य भाग लिच्छवि और (२) बाहिर (उपनगर) अथवा बृहत्तर वैशाली।

इस गणतंत्र में ७७०७ राजाओं और इतने ही उपराजाओं का वर्ग राज्य करता था। उनके मातहत कर्मचारियों का समूह कार्य करता था : सैनिक कर्मचारी 'सेनानायक' के अधीन थे, प्रशासनिक कर्मचारी 'भण्डागारिक' के अधीन थे और न्याय-कर्मचारियों में 'विनिश्चयमहामात्र' (अन्वेषण कार्यालय के कर्मचारी), 'व्यवहारिक' (वकील) और 'सूत्रधार' अथवा न्यायाधीश सम्मिलित थे। विभागीय अभागों के ऊपर अटकुलक नामक कार्याधिष्ठाता होते थे। यह आठ अधिकारियों की परिषद् होती थी और परराष्ट्रसंबन्धी विषयों की देखभाल करती थी। इसके अतिरिक्त एक नौ सदस्यों की परिषद् उच्चतम न्यायालय का काम करती थी।

बुद्ध ने लिच्छवियों को कष्टसह बताया है जिनमें 'आलस्य और विलासिता नहीं थी, जो मुख्यतः गद्दी-तकियों के बजाय लकड़ी के लट्ठों के सिंहानों पर सोया करते थे। वे तीर चलाने, हाथियों को साधने और कुत्तों से धिकार करने में सिद्धहस्त थे।' वे बुद्ध के भक्त थे और उन्होंने उनसे वैशाली पधारने की प्रार्थना की जिससे उनकी पावन उपस्थिति से वहाँ फैली प्लेग की बीमारी दूर

हो जाए। नदी तट पर उसके मांगों को धो कर साफ किया गया, मालाओं, पता-काओं और कड़ाई के वस्त्रों से सजाया गया और उस पर फूल बिखरे गये और इस प्रकार बुद्ध का राजकीय स्वागत किया गया। बुद्ध ने लिच्छवियों को उपदेश दिया कि अपने गणतंत्र की सुरक्षा के लिए उन्हें अपना आन्तरिक मेल-मिलाप दृढ़ करना चाहिए और इसके गृहों को बड़ाता देना चाहिए, बुद्धों, स्त्रियों और साधुओं का सत्कार करना चाहिए और मन्दिरों और प्राचीन संस्थाओं को अवगुण रक्षना चाहिए।

शाक्यों के गणतंत्र में ८०,००० परिवार थे। विश्व की इनकी सब से बड़ी देन बुद्ध हैं। इनकी संसद शाक्य-परिषद् कहलाती थी जिसमें ५०० सदस्य होते थे और जिनका मुख्य राजा कहलाता था। जब कोशल के राजकुमार बिद्धिभ ने शाक्य-गणतंत्र पर आक्रमण किया तो वहाँ की संसद् ने यह निश्चय किया कि आक्रमणकारी का विरोध न किया जाय। फलतः निरीह शाक्य जनता का कल्ले-आम हो गया। शाक्य सुसंस्कृत लोग थे। उनमें उपासि नाई और गौतमी और तन्वा आदि बोरियों तथा बौद्धधर्म के कई प्रसिद्ध नेता उत्पन्न हुए।

मगधिय त्रिकाय (११२३१) में मल्ल राज्य को संघराज्य कहा गया है। इसकी दो शाखाएँ प्रतीत होती हैं। इनमें से एक की राजधानी पावा थी जहाँ महावीर का निधन हुआ; दूसरी की राजधानी कुशीनगर थी जहाँ बुद्ध का निर्वाण हुआ। पावा के मल्लों ने एक नया संसद्-भवन बनवाया। इसको 'उम्भटक' कहते थे। बुद्ध ने इसका उद्घाटन किया था।

मल्ल गणतंत्र को आनन्द और अनुरुद्ध नामक दो प्रसिद्ध बौद्ध नेताओं को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है।

महावीर का जन्म इन्हीं के बीच हुआ था। इनके पिता इस गण के मुख्य थे। उनकी राजधानी कोल्लाग थी जिसे नाय-कूल 'जातुकों का निवास' कहा गया है। बौद्ध ग्रन्थों में कोलिय और मोरिय नामक गणतंत्रों जामुक (नाय) और मिथिला के विदेहों की चर्चा है। किन्तु उनके विषय में अधिक तथ्यों का ज्ञान नहीं है।

तात्कालिक बौद्ध और जैन ग्रन्थों में वर्णित सभ्यता

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में तात्कालिक भारतीय सभ्यता की शक्तियाँ मिलती हैं।

तात्कालिक वस्तुियों के जीवन में काफी प्रगति हो चुकी थी जो सभ्यता

का आधार है। घर्म ग्रन्थों में अनेक निवास-केन्द्रों का उल्लेख है। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था। ग्राम और उससे बड़ी इकाइयों की चर्चा एक ग्रन्थ में इस प्रकार आई है : (१) ग्राम, (२) लवंट, (२०० ग्रामों का संघ), (३) द्रोणमुखा (भृगुकच्छ या साम्राज्य) जैसे बन्दरगाह अथवा कीटिल्य के अनुसार ४०० गाँवों का संघ), (४) पत्तन (व्यापार अथवा खानों का केन्द्र), (५) मतम्ब (१०,००० ग्रामों और दुर्ग का समूह), (६) नगर, (७) निगम (व्यापारियों की बस्ती) और (८) राजधानी।

पहू जाति-व्यवस्था पर आधारित थी। चार वर्णों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में 'हीन जाति' और 'हीनसिन्ध' का उल्लेख मिलता है। आदिमवासियों अथवा जनार्णों को 'म्लेच्छ' कहते थे। विदेशी अथवा सीमावासी लोगों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें योन, कम्बोज प्रमुख थे। इनमें आर्य (मालिक) और दास ये ही दो वर्ग होते थे। जहाँ तक ब्राह्मणों का प्रश्न है सभी ब्राह्मण अपनी जाति के आदर्शों का पालन नहीं करते थे। बृह ने निम्नलिखित पाँच प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख किया है (१) 'ब्रह्मसमा' (ब्रह्म के समान), (२) 'देवसमा' (देवता के समान), (३) 'भरियदा' (जाति के गौरव के अनुरूप कार्य करने वाले), (४) 'सम्भिन्नमर्षाद' (जो अपनी मर्षादाओं से व्युत्पन्न हो चुके हैं) और (५) ब्राह्मण-चाण्डाल (जो चाण्डालों की तरह पतित हैं)। अधिकतर ब्राह्मण पहिले तीन प्रकार के थे। सामान्यतया ब्राह्मणों को अपने आश्रमों में तापस या इंसि (ऋषि) के रूप में निवास करते दिखाया गया है। कुछ ब्राह्मण सरकारी नौकरी करते थे। और पुरोहित, जमात, महानात्र, दूत ही नहीं सेनापति, मुद्राजीव (वित्तमन्त्री) भी थे। कुछ चिकित्सक, दवाफरोश, ज्योतिषी, स्थपति और चारण भी होते थे।

अर्थ व्यवस्था ग्राम पर केन्द्रित थी। सुरक्षा के लिए इसके चारों ओर दीवारों का घेरा बनाया जाता था जिनमें ग्रामद्वार (ग्राम में घुसने का रास्ता) होता था। गाँव का मुख्य ग्रामनोजक कहलाता था। गाँव के चरते खेतों में (ग्रामशेष) खेती होती थी जिन्हें शाह-अंसाह की बाहु लगाकर और रखवालों द्वारा पशु-पक्षियों से बचाया जाता था। बड़े-बड़े फार्म भी थे जिनमें ५०० हलों की खेती होती थी और मजदूर (भतिका) काम करते थे। किन्तु सामान्यतः काश्तकार अपनी अलग-अलग खेती करते थे।

ग्राम-निर्माण में चरागाहों का विचार किया जाता था जहाँ गोपालक पशु चराते थे और जहाँ सन्ध्यासिद्धों के रहने के निमित्त बन होते थे। उनसे

पर जंगलों की पट्टी होती थी जहाँ से जलाने के लिए लकड़ी प्राप्त-निपोजत मिलती थी। कृषि-योग्य भूमि पर 'बलि' (सेस) और 'भाग' (राज्य या मालिक का हिस्सा) लिया जाता था। उपज से अकाल से बचने के लिए राजकीय संग्रहालयों में भन्ना भेजा जाता था। बेगार का रिवाज था। कृषक राजा को उपहार देते थे।

कृषि के साथ-साथ दस्तकारी का काम भी होता था जिससे कृषकों को फसली काम से अवकाश मिलने पर घंघा मिल जाता था। वे स्थानीय उपभोग की वस्तुएँ बनाते थे। कारीगरों के अपने पृथक् गाँव भी होते थे। कुम्हारों के गाँव, बड़ियों के गाँव, लोहारों के गाँव आदि के उल्लेख मिलते हैं। ग्रामी और नगरों में कारीगरों की अलग बस्तियाँ और गलियाँ होती थीं जैसे तन्तुबायचानु (जुलाहा का बाई), दन्तकार-बीची (हाथीदाँत का काम करने वालों की गली), रंजनकार बीची (रंगरेजों की गली) आदि।

व्यापार के अलग-अलग मार्ग थे। सहकों, नदियों और समुद्र से व्यापार चलता था। चम्पा, सुवर्णवीरि पाटलिपुत्र, ताम्रलिप्ति और वहाँ से लंका को व्यापार होता था। काशी से गंगा नदी के माध्यम से होकर व्यापार-मार्ग समुद्र तक नावें जाती थीं। भद्रकाल (भदौच) से सिंहल होकर समुद्र के किनारे-किनारे सुवर्णभूमि (बर्मा) तक जहाज जाते थे जिनमें ५०० से ७०० यात्री तक यात्रा कर सकते थे।

गाड़ियाँ और मार्ग (कारवाँ) स्थल-मार्गों पर चलते रहते थे और एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान पहुँचाते थे। ये मार्ग राजगृह और श्रावस्ती से सुदूर प्रतिष्ठान तक जाते थे और दक्षिणापथ में पहुँचते थे और दूसरी ओर सिन्ध तक चले जाते थे जहाँ के घोड़े और गधे प्रसिद्ध थे। एक चौथा मार्ग, उत्तरापथ जो 'घाण्ड टुक रोड' की तरह था और राजगृह, श्रावस्ती, वाराणसी और साकेत को तथाशिला से जोड़ता था।

नाव गंगा और यमुना में कोशाम्बी तक देशी बेंड़ें चलते थे।

कारवाँ राजस्थान की मरुभूमि के पास सितारों के सहारे चल-निध्यामक कारवाँ (कलान) के नेतृत्व में चलते रहते थे।

पश्चिमी तट के बन्दरगाहों के परे व्यापारी खुले समुद्र में घुसकर भूमि से आशुल हो जाते थे और बाबेल (बाबुल) तक से व्यापार करते थे और वहाँ समुद्री व्यापार मोर ले जाया करते थे (देखिए मेरी हिन्दुसम्पत्ता में दिए गये ग्रन्थ-संकेत)

नगर के बाहर सफाई और स्वच्छता के दृष्टिकोण से बाजार बनाए जाते

से। साबली के द्वार पर मछली उत्तर-पंचाल के द्वार पर हरी सन्ती (पर्णिका),
बनारस के बाहर चौराहों पर (सघाटक) हिरण का मांस
बाजार बिकने व बूचड़गाने (शुण्ड) के होने के उल्लेख मिलते हैं।
नगर के भीतर दुकानों पर पंसारहटा, तेल, अन्न, कपड़ा
और जवर बिकते थे।

मुद्रा का प्रयोग होता था। मुद्रा को सामान्यतः कार्षापण कहते थे। पाद,
मासक, काकणिक आदि विभिन्न नाम, मोल और तोल के सिक्के चालू थे।
सोने के सिक्कों को सुवर्ण या निष्क कहते थे। तंबू और
मुद्रा काँसे के भी सिक्के बनते थे। वित्तपिण्डक (३।४५) के
एक अवतरण से ज्ञात होता है कि देश और काल के अनुसार
मुद्राओं के दाम में अन्तर था। इसमें लिखा है कि बिम्बिसार और अजातशत्रु
के राज्यकाल में राजगृह में ५ मासक का १ पाद होता था।

उद्योग-व्यवस्था श्रेणियों द्वारा व्यवस्थित थी। श्रेणियों के पदधिकारियों में मुख्य
थे इनके प्रमुख (प्रधान), जेठक (वरिष्ठ अधिकारी) और भाण्डागारिक (कोषा-
ध्यक्ष) में साहित्य में वर्णित हैं। बिना श्रेणियों के संघटित
श्रेणियाँ उद्योग का संचालन जेठक करते थे। व्यापार प्रमुख सेट्ठी
कहलाता था। कई श्रेणियों अथवा व्यापारों के संघ का
मुखिया महासेट्ठी होता था। बुद्ध का भक्त अनासपिण्डक ऐसा ही महासेट्ठी
था जिसके अर्थात् ५०० अनुसेट्ठी (मातहत सेठ) थे।

उस समय जंगली जानवरों, डाकूओं, खतरनाक स्थानों और भोजन, जल,
पड़ावों, घाटों और मार्गों की जानकारी की कमी के कारण व्यापार करना कठिन
व्यापार-मार्गों था। इन दिक्कतों को दूर करने के लिए लम्बी यात्राओं के
के निमित्त कारवाँ बनाये जाते थे जिन्हें सार्वं कहते थे। इनमें
संकट व्यापारियों की विविध मण्डलियाँ शामिल होती थीं और एक
सार्वंवाह (नेता) के नेतृत्व में रास्ता तै करती थीं। सार्वंवाह को मार्गों का काफी
ज्ञान होता था। एक ऐसे सार्वं का भी वर्णन मिलता है जिसमें ५०० व्यापारी
थे। इनके नेता को सार्वंवाह जेठक कहा गया है। सार्वं के अपने चौकीदार
(आरक्षक) होते थे। इसी प्रकार नोरों के भी अपने संघटन थे। उनका मुखिया
'चोर जेठक' होता था और उनकी बस्तियाँ 'चोरनामिक' कहलाती थीं। इन
वर्णनों से उस काल की यात्राओं और यातायात पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

जातियों के नियम ऐसे थे कि उनसे ऊपर से नीचे और बराबर-बराबर
सभी स्तरों पर मनुष्य अपने व्यवसाय अदल-बदल सकते थे। उस काल के ग्रन्थों
से पता चलता है कि एक राजकुमार अपना काम छोड़कर व्यापार करने लगता

या अथवा कुम्हार, धनुर्धारी आदि का व्यवसाय ग्रहण कर लेता था।
जाति और इनसे यह भी ज्ञात होता कि हे शक्य और कोलिय क्षत्रिय व्यवसाय लेती करते थे। उनमें लिखा है कि ब्राह्मण जीविकोपार्जन के लिए व्यापारी और बढ़ई का धंधा पकड़ लेते थे। एक उल्लेख के अनुसार पिता अपने पुत्र को लेख (क्लर्क का काम) गणना (मुनीमी) अथवा रूप (सर्वाफी) कोई भी व्यवसाय चुनने को कहता है। किन्तु इस लोच और उदारता के होते हुए भी पैतृकता आधिक जीवन का एक प्रमुख तत्व था। एक बौद्ध ग्रन्थ के अवतरण के अनुसार ब्राह्मण का व्यवसाय मिश्राटन था। क्षत्रिय का धनुष-बाण चलाना और युद्ध करना था, वैश्य का कृषि और पशुपालन और शूद्र का हल और हूसिया चलाना था।

प्राचीन काल से भारत और ईरान का सांस्कृतिक संबंध था। अवस्ता में भारत को हिन्दु कहा गया है जो संस्कृत शब्द सिन्धु से निकला है। इसमें पंजाब का नाम दृष्ट-हिन्दु है जो ऋग्वेद के सप्तसिन्धवः के समकक्ष ईरानी आक्रमण है। ई० पू० की छठी शती में यह सांस्कृतिक संबंध राजनीतिक संबंध में परिणत हो गया। दारा प्रथम (५२२-४८६ ई० पूर्व) के राज्यकाल में हि(न्) दु उसके साम्राज्य का एक भाग था जैसा कि उसके शिलालेखों में लिखा है। उत्तरपश्चिमी भारत उसके साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त था और वहाँ से उसकी आय का एक तिहाई हिस्सा प्राप्त होता था। श्याप (४८६-४६५) ई० पू० के राज्यकाल में इस प्रदेश पर ईरानी लोगों का अधिकार दृढ़ हो गया। उसने यूनान से लड़ने के लिए अपनी सेना में भारतीय सैनिक भरती किए। उन्हें मन्दारी (गन्धार के निवासी) और हिन्दी (सिन्धु प्रदेश के निवासी) कहा गया है।

भारत और ईरान के संबंध के कारण यहाँ ईरानी मुद्रा प्रचलित हुई। फारसी स्वर्णमुद्रा 'देरिक' कहलाती थी और रजतमुद्रा सिंगलोई (शेकल) कहलाती थी। स्वर्णमुद्रा की अपेक्षा रजतमुद्रा अधिक प्रचलित थी।

ऐसा लगता है कि सीमा प्रान्तों में ईरानी उपनिवेश थे। अशोक ने फारसी-अरामी लिपि में शिलालेखों में एक शिलालेख खुदवा कर फारसी प्रभाव को मान्यता दी। पाणिनि (लगभग ५०० ई० पू०) ने इस लिपि को यवनानी (यवनों की लिपि) कहा है। उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में बाद में जो खरोष्ठी लिपि प्रचलित हुई उसे भी अरामी-लिपि का रूपान्तर माना जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक द्वारा अश्वामेनी सम्राटों की तरह स्तम्भों और शिलालेखों पर खुदवाई गई घोषणाएँ और इन स्तम्भों के शिखरों की चोटी पर फारसी प्रभाव का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

सिकन्दर मकदुनिया का राजा था और अरस्तू का शिष्य था। उसकी सैनिक प्रतिभा अनुपम थी। उसने एशिया में विस्तृत विजय पावार्हे की। ३३३-सिकन्दर का ३२७ ई० पू० के बीच में उसने फारसी साम्राज्य, मिस्र आक्रमण (३२७ और वक्त्र पर विजय प्राप्त की और भारत पर आक्रमण ई०पू०) किया। उसकी पिछाड़ी को बचाने के लिए उसने अपनी प्रगति के मार्ग में यूनानी सैनिकों की छावनियाँ बसाई। भारत में अभियान करने से पूर्व उसने स्थानीय राजाओं को समर्पण करने का आवाहन किया। सीमाप्रान्त के सिसिकोटस (शशिगुप्त) और तक्षशिला के राजा आम्भी ने उसका निमंत्रण स्वीकार किया।

सब से पहिले सीमाप्रदेश के एक राजा अस्टीज (अष्टक) ने यूनानी आक्रमणकारी का विरोध किया किन्तु यह निरर्थक रहा।

उत्तर में 'अस्यसिजोई' (अश्वकपन) और 'अस्सकेनोई' (अश्वकापन) गणतंत्रों के लोग उससे लड़े। जब तक उनका एक भी व्यक्ति जीवित रहा उन्होंने युद्ध जारी रखा। पूर्वी अश्वकापनों ने अपने भसग (मशक) नामक दुर्ग से राजमाता क्लियोपित्रा (कुपा?) के नेतृत्व में सिकन्दर का कड़ा मुकाबला किया। उस जाति की स्त्रियाँ भी अपने देश की रक्षा के लिए लड़ीं।

इन लोगों ने ओरनोस (वरणा) के नगर पर भी यूनानियों का डट कर विरोध किया किन्तु असफल रहे। इन पहाड़ी लोगों को हरा कर सिकन्दर ने सिन्धु को पार किया और तक्षशिला में प्रवेश किया जहाँ का राजा पहिले ही उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका था।

इसके बाद झेलम को पार करना था। वहाँ के राजा पौरव (पौरव) ने उसका डट कर विरोध किया। किन्तु रात के अन्धकार में जब आँधी और वर्षा बहुत तेज थी यूनानियों ने झेलम पार कर ली और पौरव उसे रोकने में असमर्थ रहा। उसने ३०,००० पैदल, ४,००० घोड़ों, ३०० रथों और २०० हाथियों की एक विशाल सेना एकत्रित की। किन्तु खराब मौसम के कारण यह सब निष्फल रहा। वर्षा के कारण भूमि पर फिसलन हो गई। घोड़ों के चलने और बीड़ने में दिक्कत हो गई। रथ कीचड़ में अटक गये। भारतीय घोड़े और हाथी मकधूनी घोड़ों का घावा नहीं सह सके और उन्होंने अपनी ही सेना में सलबली मचा दी। पौरव अन्तिम क्षण तक दड़ रहा। उसकी वीरता से सिकन्दर प्रभावित हुआ। उसने उससे मित्रता का संबंध स्थापित किया और उसे उसका राज्य लौटा दिया और साथ ही ५,००० नगर और असंख्य घामों का प्रदेश और १५ गणतंत्रों का इलाका उसके राज्य में मिला दिया। गणतंत्रात्मक जाति 'स्लोसाई' (स्लोचकापन) जिनके पास ३७ नगर थे, बिनाब और रावी के बीच का समस्त

प्रदेश पौरव के राज्य का अंग बन गया।

रावी के पार सिकन्दर ने 'अद्रोस्तोई' (अघुष्ट) और 'कठोई' (कठ) को जीत लिया और उनके विरोध को निष्फल कर दिया। उसने पास के राजा 'सोफास्टिस' (सौमूति) और फेनेलस (भगल) के राज्यों को भी जीत लिया।

इसके बाद सिकन्दर हिफैसिस (ह्यास) नदी पर आया जहाँ उसकी विद्रोही सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया।

३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने अपनी सेना को उसी मार्ग से जिससे वह बैलम से आगे आया था वापस जाने का आदेश दिया। बैलम से उसने रास्ता

बदला और सिन्धु नदी में १,००० नावों के बेड़े के द्वारा,

उसकी वापसी जिनमें वहाँ की बनी हुई सामान भरने की कस्तियाँ, घोड़े

ले जाने के बेड़े और घुड़-नोट थे और जिनके दोनों ओर

किनारों पर रक्षा के लिए सेना नियुक्त थी, आगे बढ़ना शुरू किया। जैसे-जैसे यह

बड़ा बैलम और बिनाब के संगम पर पहुँचा मल्लोई (मालव) और ओम्सीद्र-

कोई (क्षुद्रक) के नेतृत्व में गणतन्त्रों के एक संघ ने सिकन्दर का कड़ा विरोध

किया। एक नगर में ब्राह्मण रहते थे जिन्होंने लेखनी को छोड़कर तलवार उठाई

और लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए।

सिकन्दर की वापसी आसान नहीं थी। शिबि, जेष्ठी (शजिय), ओम्सा-

दिओई (वसाती), सोगि (शूद्र) आदि गणतन्त्रों ने उसका विरोध किया। एक

ही नगर में २०,००० नागरिकों ने अपने बाल-वस्त्रों के साथ आत्म-समर्पण करने

के बजाय अग्नि की गोद में कूदना पसंद किया।

इस प्रदेश के ब्राह्मणों ने आक्रमणकारी के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखा।

उन्होंने राजा भूषिक और एक अन्य राजा 'जैन्सीकेनोस' को शत्रु से छड़ने और

निरादर के स्थान पर मृत्यु का आलिङ्गन करने की मंजुरी दी।

३२५ ई० पू० में सिकन्दर भारत से चला गया। गैट्रोसिया के सूखे रेतीले

मैदान में उसकी सेना को महान् कष्ट हुआ।

यूनानी इतिहासकारों में सिकन्दर के भारतीय आक्रमण को अतिरंजित

महत्व देने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इनसे पंजाब में कोई स्वाधीन असर नहीं

पड़ा। इसके विपरीत यह महत्वपूर्ण तथ्य सामने आया कि

परिणाम विभिन्न स्थानों पर विविध गणतन्त्रों, जातियों और राजाओं

ने उसका डट कर मुकाबला किया। सिकन्दर एक-एक करके

उन राज्यों को परास्त करने में सफल हुआ। वे शत्रु के विरुद्ध राष्ट्रीय एकता-

पूर्ण मोर्चा नहीं बना सके। प्रकृति ने भी भारतीय हाथियों और रथों को, जो

भारतीय सेना के संघर्ष थे, घुड़-भूमि में बिफल करके शत्रु की सहायता की।

यूनानी विजेता की सब से बड़ी कठिनाई यह थी कि वह मकदूनिया की राजधानी से बहुत दूर हो गया था। एक सन्ध्यासी ने एक सूखे चमड़े के एक कोने पर पैर रख कर जिससे दूसरा कोना ऊपर उठ गया वड़े चित्रमय ढंग से इस तथ्य पर प्रकाश डाला। दूरवर्ती प्रदेश को संग्रहित करना सरल नहीं था।

सिन्धु के पूर्व में भारत के भीतर यूनानी क्षयप नियुक्त करने का सिकन्दर को साहस न हुआ। उसने उन्हें सिन्धु के पश्चिम में रखा। उसकी वापसी पर विरोधी तत्व उमड़ पड़े। उसके परम शक्तिशाली क्षत्रप यूनानी क्षत्रप फिलिप की हत्या कर दी गई इससे पहिले अरबायनों ने क्षयप सिकेनोर का वध किया।

सिकन्दर के आक्रमण के यूनानी लेखकों ने भारतीय जीवन के कुछ रोचक तथ्य लिखे हैं। पंजाब में नागरिक जीवन उन्नति कर रहा था। वहाँ बहुत-से यूनानी लेखकों नगरों का विकास हो रहा था। इनमें मसग और ओरनोस के द्वारा भारतीय दुर्ग सुरक्षा और युद्ध के काम में आते थे। मसग (मशक) जीवन के उल्लेख का दुर्ग एक पहाड़ की चोटी पर स्थित था। इसके चारों ओर बड़ी दीवार और खाई थी जिसके कारण वहाँ शत्रु का पहुँचना बहुत कठिन था। मल्लोई (मालव) लोगों ने बहुत से नगर बसाए जिनकी किलेबन्दी बहुत मजबूत थी। इस प्रकार भारतीय स्थापत्य का माध्यम लकड़ी के साध-साध पत्थर भी था।

पंजाब पशुओं के लिए भी प्रसिद्ध था। अश्वक प्रदेश से सिकन्दर ने अच्छी मसल के २,३०,००० बैल मकदूनिया भेजे। तदशिला के राजा ने उसे ३००० पशु-संपत्ति बैल और १०,००० भेड़ें भेंट की।

भारतीय सामाजिक जीवन की एक विशेषता सन्ध्यासियों का समूह था। सिकन्दर को उनसे मिलने की अभिलाषा थी। किन्तु वे उससे मिलने को तैयार न थे। उनके एक नेता ने साफ तौर से कहा था "कोई भी व्यक्ति योरोपिय सैनिक भूषा—घुड़सवारी का चोगा, चौड़ा छत्रेदार टोप और घुटनों तक के जूते—पहन कर, जैसे कि मकदूनो पहने हुए थे, भारतीय जान नहीं सौंख सकता। इसके लिए उसे नंगा होकर गमने पत्थरों पर उनके बराबर बैठना चाहिए" (केम्ब्रिज हिस्ट्री भाग १, पृ. ३५८)। एक अन्य सन्ध्यासी ने जिसका नाम यूनानियों ने दण्डमिस् (दण्डि-स्वामी ?) लिखा है, यह कह कर कि "मुझे न किसी का भय है न किसी से वर माँगने की इच्छा है, जो कुछ सिकन्दर मुझे दे सकता है वह मेरे लिए व्यर्थ है, ब्राह्मणों को न धन का लोभ है न मृत्यु का भय है" सिकन्दर के पास जाने से इन्कार कर दिया और मौत की कोई परवा नहीं की। ये शब्द भारतीय विचार-धारा और आध्यात्मिकता के सुन्दर निदर्शन हैं।

मौर्य साम्राज्य

३२५ ई० पू० में सिकन्दर के भारत से वापिस लौटने पर भारतीय स्वतंत्रता का आंदोलन, जिसके चिह्न अनेक स्थानों पर यूनानी राज्यपालों की हत्या के चन्द्रगुप्त मौर्य रूप में प्रस्फुटित हो चुके थे, जोर पकड़ गया। उसी समय (३२३-२९९ ई० पू०) इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला और समय का इंगित पहचानने वाला एक समुचित व्यक्ति सामने आया। उसका नाम चन्द्रगुप्त था। इसे ही यूनानी लेखकों ने सैंद्रोकोतस कहा है। इस पहचान से भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण कालक्रमसंबंधी तथ्य प्राप्त हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि युवावस्था में चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिल चुका था। उसने उसके आक्रमण को अपनी आँखों से देखा था और उससे समुचित निष्कर्ष चन्द्रगुप्त के और उपदेश ग्रहण किए थे। इस घटना-चक्र को जस्टिन ने कृत्यों के विषय इन शब्दों में व्यक्त किया है: "सिकन्दर के निधन के बाद में जस्टिन का भारत में, ऐसा लगता है, कि परतंत्रता के जुवे को अपनी उल्लेख गर्दन से उतार फेंका और यूनानी राज्यपालों को मौत के घाट उतार दिया। इस स्वतंत्रता का नेता सैंद्रोकोतस (चन्द्रगुप्त) था। इस व्यक्ति का जन्म सामान्य घर में हुआ था किन्तु दिव्य प्रेरणा से उसे राज्यशक्ति प्राप्त करने का प्रोत्साहन मिला था। इसके बाद उसने 'कुटेरो' का एक मिरोह अपने साथ इकट्ठा किया और भारतीय जनता को तात्कालिक (यूनानी) राज्य की

पलट देने की प्रेरणा दी।”

पंजाब को विदेशी शासन से स्वतंत्र करने के चन्द्रगुप्त के संकल्प की सफलता उसकी सेना पर निर्भर थी जिसे उसने उन गणतंत्रों की घोर सैनिक जनता से चन्द्रगुप्त की एकत्रित किया था; जिन्होंने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के मुक्ति-सेना के लिए सिकन्दर से अन्तिम दम तक युद्ध किया था। इन रंगकटों

सैनिक को जस्टिन ने ‘लुटेरा’ कहा है जिसका अभिप्राय पंजाब के अराजक गणतन्त्रात्मक जनता से है जिन्हें भारतीय ग्रन्थों में ‘आरट्ट’ अथवा ‘अरा-ट्टक’ कहा गया है। महाभारत में इन आरट्टों का जिक्र है और उन्हें पाचनद अथवा पांच नदियों की भूमि पंजाब का निवासी बताया गया है। किन्तु चन्द्रगुप्त केवल इन स्थानीय रंगकटों पर ही निर्भर नहीं रहा। उसने सैनिक सामग्री के सभी साधनों का उपयोग किया और एक मिली-जुली सेना तैयार की जिसमें मुद्राक्षस नाटक के अनुसार शक, पवन, किरात, कम्बोज, पारसीक और बाह्लीक आदि विविध जातियों के सैनिक सम्मिलित थे।

स्वतंत्रता-संग्राम से देश में हलचल मच गई। इस के युद्ध-नीति के विषय में लोककथाएँ प्रचलित हो गईं। एक कथा के अनुसार चन्द्रगुप्त ने देश के आन्त-स्वतंत्रता-संग्राम

रिक भाग में आक्रमण किया और सीमाप्रदेश को नहीं जीता, **की** जिस प्रकार एक बालक रोटों के किनारों को छोड़ कर अन्दर **कथाएँ** का भाग खाता है। इससे उसे यह अनुमान हुआ कि वह सीमाप्रदेश पर और अपनी मिछाड़ी को सुरक्षित करने के लिए संयुक्त सैनिक-दल नियुक्त करे और तब मगध पर आक्रमण करे। ऐसा ही करके उसने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का घेरा डाल दिया और वहाँ के राजा चतुर्नन्द का वध किया, जैसा कि बौद्धग्रन्थ महावंशटीका से ज्ञात होता है।

नन्दों के पिछाले राज्य को जीत कर चन्द्रगुप्त पंजाब से मगध तक के विस्तृत प्रदेश का सम्राट् बन गया। बाद में जब उसकी शक्ति चरम सीमा पर पहुँच

सेल्युकस चुकी थी तो ३०४ ई० पू० में सीरिया के सम्राट् सेल्युकस **का** ने सिकन्दर के आदर्शों का अनुकरण करते हुए भारत पर

आक्रमण आक्रमण करने की मूर्खता की। किन्तु उसे इस बात का पता नहीं था कि अब नया भारत एक शक्तिशाली सम्राट् के तत्वावधान में राजनीतिक एकता प्राप्त कर चुका था। उसे संधि का प्रस्ताव करना पड़ा और चन्द्रगुप्त को अपने राज्य का समस्त पूर्वी प्रदेश, जिसमें अराक़ोसिया (कन्दहार), एरिया (हेरात) पैरोपोमेसदे (काबुल) और मेडोसिया (बलूचिस्तान) शामिल थे, समर्पित करने पड़े। इस प्रकार चन्द्रगुप्त का राज्य ईरान तक फैल गया और इस वृहत्तर भारत पर वह जम गया।

प्लूटार्क के अनुसार सेल्युकस पर विजय पाने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने ६००,००० सैनिकों की सेना लेकर समस्त भारत को जीत कर अपने अधीन कर लिया। तमिल कथानकों में मौर्यों द्वारा दक्षिणी प्रदेश के दक्षिणी विजय आक्रमण के उल्लेख मिलते हैं। स्थानीय जातिधर्मों ने जिन्हें कोसर और वाड्कर कहा गया है मौर्यों की सहायता की। एक जैन परंपरा के अनुसार चन्द्रगुप्त ने मिह्रासन छोड़कर जैन आचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर के निकट श्रवणबेलगोला में प्रस्थान किया और वहाँ सन्ध्यासी-जीवन बिताया। शिलालेखों और स्थापत्य से इस किंवदन्ती के सत्य की पुष्टि होती है। उस स्थान पर चन्द्रगुप्त बस्ती नामक मन्दिर भी इस तथ्य का साक्ष्य देता है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि वह अपने राज्य के ही एक भाग में घस गया था। अतः उसके पौत्र अशोक ने अपने दूसरे शिलालेख में सतियपुत्र और केरलपुत्र को बोल, पाण्ड्य के साथ अपने दक्षिणी पड़ोसी बताया है जिससे उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा का संकेत मिलता है। दक्षिणी प्रदेश की विजय का श्रेय अशोक को नहीं है क्योंकि उसने केवल कालिंग को जीता था।

शक-राजा रुद्रवामा (१५० ई०) के शिलालेख से पता चलता है कि पश्चिमी भारत पुष्यगुप्त नामक वंश के अधीन चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का भाग था। रुद्र-वामा के शिलालेख के अनुसार सौराष्ट्र और आनतं मौर्य पश्चिमी विस्तार राज्य में शामिल थे। इसी कारण अशोक ने गिरनार (जूना-गढ़) और सोपारा में अपने दो शिलालेख खुदवाए जो पश्चिमी भारत पर उसके राज्य का साक्ष्य देते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि चन्द्रगुप्त के राज्य-निर्माण का समस्त इतिहास वस्तुतः उसके गृह-चाणक्य, कौटिल्य अथवा विष्णुगुप्त का कार्य था। पुराणों में लिखा है कि "कौटिल्य ब्राह्मण अर्थात् नन्दों का निर्भूलन करेगा और उनके स्थान पर चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक करेगा।" कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अन्त में भी यह वाक्य मिलता है कि "उसने शास्त्र शस्त्र और मातृभूमि को नन्द-राज्य से मुक्त किया। इस प्रकार कौटिल्य का यह संकल्प था कि वह शूद्र नन्द राजा के अत्याचार का अन्त करके वहाँ वर्णाश्रम धर्म के संरक्षक क्षत्रियवंशोद्भूत न्यायोचित राजा को अभिषिक्त करे। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार कौटिल्य की चन्द्रगुप्त से भेंट आकस्मिक हुई थी। उसकी माता ने निर्धनता के कारण अपने पुत्र चन्द्रगुप्त को एक पशुपालक के हाथ बेच दिया था जिससे उसे एक शिकारी में खरीद लिया था। उधर से गुजरते हुए चाणक्य ने उस बालक को राजक्रीड़ा (राजा का खेल) करते हुए देखा। उसे उसके महान् भविष्य का आभास मिला और उसने उसे शिकारी से खरीद

चाणक्य

कर तुरन्त अपने निवासस्थान तक्षशिला की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उसने उसे आठ वर्ष तक शास्त्र और शिल्प की उच्च शिक्षा दी। चाणक्य पहिले ही नन्द राजा के सन्मानवन में अपमानित होकर नन्द राजा के उन्मूलन की प्रतिज्ञा कर चुका था। इस तथ्यों से उस राजनीतिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि का पता चलता है जिससे चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक दूसरे के सम्पर्क में आए।

चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य-शासन पर सेल्युकस द्वारा नियुक्त यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के वर्णन से और उसके महामंत्री चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' से जिसे

मौर्य इतिहास का ग्रन्थ माना जाता है; प्रसृत प्रकाश पड़ता है।

शासन

अर्थशास्त्र का काल निश्चित नहीं है, किन्तु एफ० डब्ल्यू० टोमस ने 'केम्ब्रिज हिस्ट्री' में इसे मौर्यकालीन माना है।

मेगस्थनीज ने चार प्रकार के अधिकारी गिनाए हैं जो (१) जिला, (२) नगरपालिकाएँ, (३) विभाग और (४) सेना का काम करते थे। नगरों में शासन के नगरपालिकाएँ काम करती थीं जिनमें पाँच-पाँच सदस्यों विभाग की छः समितियाँ होती थीं जो क्रमशः (१) कार्यालय (कार-स्थानों) (२) विदेशियों के निवास की व्यवस्था व निवास-गृहों की देखभाल (३) आवश्यक आँकड़े एकत्रित करने (४) बाजार (५) पण्य और (६) विक्रय कर की प्राप्ति का कार्य करती थीं।

ये छः समितियाँ मिलकर अपना समूची नगरपालिका परिषद् बन्दरगाहों, मन्दिरों, सार्वजनिक स्थानों और कार्यों और पण्यों के मूल्यांकन की व्यवस्था करती थीं।

सामान्य प्रशासन उच्चाधिकारियों (कौन्सिलरों और असेसरों) के हाथ में था। इन्हीं में से राज्यपाल, राजकीय परामर्शदाता, कोशाध्यक्ष, न्यायाधीश,

सामान्य

सेनापति, विभागाध्यक्ष और प्रशासक (मैजिस्ट्रेट) और

प्रशासन

क्षुधिया पुलिस के कर्मचारी (गुप्तचर) लिए जाते थे।

मेगस्थनीज ने शस्त्र-निर्माण, औजारों और जहाजों के राष्ट्रीय उद्योगों के विभागों का उल्लेख किया है। इनमें काम करने वाले मजदूर और कारीगर कर से मुक्त होते थे। सिचाई-विभाग 'नदियों की देखरेख'

विभाग

और पानी खोलने के नालों और नालों का, जिनसे पानी

नहरों और राजबाहों में होकर भूमि में पहुँचता था, संरक्षण

करता था। कर-प्राप्ति का एक अलग विभाग था।

सैनिक कार्यालय को एक विशाल सेना का प्रबन्ध करना पड़ता था जिसमें प्लिनी के अनुसार ६००,००० पैदल सिपाही, ३०,००० घुड़सवार, ९००० हाथी और लगभग ८०० रथ थे। यह कार्यालय पाँच-पाँच सदस्यों

सेना की ६ समितियों में विभक्त था जो (१) पैदल सेना, (२) घुड़सवार सेना, (३) युद्ध के रथ, (४) हाथी, (५) जावा-गमन, रसद और चिकित्सा और (६) नौसेना की व्यवस्था करती थीं।

कोटिल्य ने मेगस्थनीज के वर्णन को अधिक विस्तार दिया है। यहाँ उसकी सूक्ष्म रूपरेखा अंकित की जाती है। उसने निम्नलिखित शासन-विभागों और

कोटिल्य का उनके अध्यक्षों का उल्लेख किया है। (१) समाहर्ता (कर-

वर्धन : अधिकारी) का विभाग, (२) सन्निधता (कोशाध्यक्ष)

विभाग का राजस्व विभाग, (३) भण्डार, (४) शस्त्रास्त्र, (५)

बन्दीगृह, (६) अक्षतल (लेखा), (७) सीताध्यक्ष (कृषि-विभाग), (८)

खनिज पदार्थ, (९) लोहाध्यक्ष (धातुओं के नियंत्रण का विभाग), (१०) लक्षण

बनवा टंकशालाध्यक्ष (टंकशाला), (११) नमक, (१२) वन, (१३) पशु, (१४)

विबीताध्यक्ष (चरागाहों का विभाग), (१५) मुद्राध्यक्ष (पासपोर्ट विभाग),

(१६) नावध्यक्ष (नावों और जहाजों का विभाग), (१७) पत्तनाध्यक्ष (बन्दर-

गाहों का विभाग), (१८) पण्माध्यक्ष (व्यापार संचालन का विभाग), (१९)

संस्थाध्यक्ष (व्यापारमार्गों का विभाग), (२०) युल्काध्यक्ष (चुंगी विभाग),

(२१) अन्तपाल (सीमाप्रदेश की देखभाल करने का विभाग), (२२) सुराध्यक्ष

(आवकारी तथा मद्य-पदार्थों का कर लेने वाला विभाग), (२३) पीतवाध्यक्ष

(वाट-तराजू और माप की जाँच करने वाला विभाग), (२४) सूत्राध्यक्ष (रुई

कातने और कपड़ा बनाने के उद्योग के संचालन का विभाग), (२५) महामात्राप-

सर्ण (गुप्तचर और खुफिया पुलिस का और सूचना का विभाग), (२६)

राजदूत, (२७) धार्मिक संस्थाओं का विभाग (देवताध्यक्ष)।

इन विभागों से पता चलता है कि राजकीय कार्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत

था। आधुनिक लोक-कल्याण-राज्य (वेलफेयर स्टेट) की तरह यह राज्य भी अनेक

साधनों से लोकमंगल की ओर दृष्टिचित था।

शासन में राजा का सब से अधिक महत्वपूर्ण स्थान था। वही इसका अध्यक्ष

था। मेगस्थनीज का राजा से जो गहरा संबंध रहा उससे उसके वर्णन का मूल्य

बहुत बढ़ जाता है। उसने राजा के कार्यकलाप को इन शब्दों

में व्यक्त किया है : — वह भव्यता, गौरव और ऐश्वर्य की

सामग्रियों और साधनों से परिवृत्त था। उसके साथ सशस्त्र

स्त्रियों का अंगरक्षक-दल चलता था। २४ हाथी औपचारिक अवसरों पर उसे

अभिवादन करते थे।

वह शिकार, दौड़, खेल, पशु-युद्ध, शृंगी-पशुओं के संधपं, बैल, मेढ़े, गैंड़े

और हाथियों की टक्करों का शौकीन था।

गंगा और शोण के संगम पर ९ मील लम्बी द्वीप में और १ मील की चौड़ाई में पाटलिपुत्र का नगर बसा था। इसके चारों ओर एक सहरी माई थी जिसमें नावें चला करती थीं और शोण नदी से पानी आता था। एक विशाल लकड़ी के लट्ठों की गहरपनाह इसके बचाव के लिए बनाई गई थी। उसमें छिद्र बने हुए थे जिनमें से सैनिक बाण छोड़ते थे। इसमें ६४ द्वार और ५७० बुर्ज थे। पटना के संग्रहालय में इस लकड़ी की गहरदीवारी के अवशेष मौजूद हैं। नगर की नाकियाँ शोण में गिरती थीं। नगर अधिकतर लकड़ी का बना था जिससे बाढ़ से सुरक्षित रह सके।

मेगस्थनीज ने जातियाँ, व्यवसायों और उद्योगों का वर्णन किया है। उसने ब्राह्मणों का वर्गीकरण विभिन्न कार्यों की दृष्टि से किया है (१) विद्यावी, (२) सामाजिक जीवन गृहस्थ, (पुरोहित और आचार्य), (३) सन्ध्यासी अथवा श्रमण जो फल-पत्ती खाकर रहते थे, (किन्तु जो बौद्ध नहीं थे), (४) प्रमनई (प्रामाणिक) अथवा स्वतंत्र-विचारधारा के विद्वान्, (५) गिमनेतई अथवा जैन साधु जैसे नग्न तपस्वी। उसने क्षत्रियों को सैनिक वर्ग और वैश्यों को कृषक और व्यापारी बताया है। उसने शूद्रों का इस नाम से उल्लेख नहीं किया है। उनके व्यवसाय जैसे दस्तकार, शस्त्रकार, नौकार, शिकारी, गोपाल आदि की चर्चा की है जिन्हें सकद या जिनों के रूप में वेतन मिलता था।

उसने इन वर्गों में जाति-प्रथा का वर्णन किया है : "एक सैनिक कृषक नहीं बन सकता, न एक कारीगर दार्शनिक बन सकता है। कोई व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह और अपने व्यवसाय या धर्म के अतिरिक्त कोई और काम नहीं कर सकता।"

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा जिसे यूनानी लेखकों ने अमित्रघात (शत्रुओं का घब करने वाला) बताया है। यह पता नहीं बिन्दुसार चलता कि उसके शत्रु वास्तव में कौन थे? तक्षशिला की (२९९-२७४ ई० पू०) प्रतापीय राजधानी के लोगों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया, जिसका दमन करने के लिए उसने अपने पुत्र सुसीम को भेजा और फिर अपने दूसरे पुत्र अशोक को नियुक्त किया। उसी समय उसकी मृत्यु हो गई और अशोक ने मंत्री राघगुप्त की सहायता से अपने अन्य भाइयों को हरा कर स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया। बौद्ध परम्परा के अनुसार उसके भाइयों की संख्या ९९ थी और उसने उन सब को मार कर 'चण्डाशोक' की उपाधि प्राप्त की थी किन्तु उसके शिलालेखों में इसके विरुद्ध साक्ष्य मिलता है। इन लेखों में उसके भाइयों और बहनों का उल्लेख

है जिनके साथ उसके अच्छे संबंध थे और जिन्हें उसने पाटलिपुत्र आदि प्रान्तीय राजधानियों में नियुक्त किया था। उसने अपने शिलालेखों में इस बात पर भी जोर दिया है कि धर्म का अर्थ अपने संबंधियों के साथ अच्छे संबंध (समप्रतिपत्ति) रखना है। किन्तु उसके राज्यारोहण और राज्याभिषेक में ४ वर्ष का अन्तर रहा। इससे इस बात का खुलासा हो जाता है कि अशोक को उत्तराधिकार के लिए युद्ध करना पड़ा होगा।

एक परम्परा के अनुसार चाणक्य विन्दुसार का भी सचिव रहा। उसने कठोरता से शासन किया और १६ नगरों के राजाओं और सामन्तों को जिन्होंने स्वतंत्र होने की कोशिश की, निर्मूल करके पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतटों तक उसका साम्राज्य सुदृढ़ कर दिया। विन्दुसार के राज्यकाल में साम्राज्य के विस्तार में कोई कमी नहीं हुई। सीरिया के सम्राट् अन्तीओकस प्रथम सीतर ने उसके पद को मान्यता दी और उसकी सभा में डाइमेकस को अपना दूत बनाकर भेजा। ग्लिनी के मतानुसार मित्र के राजा टोलेमी (२८५-२४७ ई० पू०) ने जिस भारतीय राजा की सभा में अपना दूत दायोनीसस भेजा वह सम्भवतः विन्दुसार या अशोक था, क्योंकि अशोक ने तेरहवें शिलालेख में टोलेमी को अपना समकालीन बताया है। यूनानी राजा ने विन्दुसार की सेवा में 'अंजीर, किलमिश और शराव' का उपहार भेजा जिसे उसने बहुत पसन्द किया।

अशोक के जीवन का इतिहास उसके शिलालेखों से प्राप्त किया जा सकता अशोक (लग० है जो उसकी आत्मकथा जैसे लगते हैं) आध्यात्मिक साहित्य २७४-२३६ ई० पू०) से भी इस विषय में जानकारी होती है।

ई० पू०)

महावंश के अनुसार अशोक की उसके पिता ने १८ वर्ष की आयु में अचली राष्ट्र का शासक नियुक्त किया था। उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। वहाँ उसने बिदिशा की शाक्य राजकुमारी महादेवी से विवाह किया। उससे महेन्द्र नामक पुत्र और संघमित्रा नाम की कन्या का जन्म हुआ। पुराणों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष अर्थात् ई० पू० ३२३ से २९९ तक राज्य किया और विन्दुसार ने २५ वर्ष अर्थात् ई० पू० २७४ तक राज्य किया। इस प्रकार अशोक २७४ ई० पू० में मदी पर बैठा होगा। महावंश के अनुसार उसका राज्याभिषेक ४ वर्ष बाद अर्थात् २७० ई० पू० में हुआ। इस ग्रन्थ के अनुसार उसके अभिषेक से ६ वर्ष बाद अर्थात् २६४ ई० पू० में उसका ज्येष्ठपुत्र महेन्द्र बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। उस समय उसकी आयु २० वर्ष थी। अतः महेन्द्र का जन्म २८४ ई० पू० में माना जाना चाहिए। यह अनुमान किया जा सकता है कि उस के जन्म के समय

उसके पिता की आयु २० वर्ष होगी। अतः अशोक का जन्म ३०४ ई० पू० में हुआ होगा।

अशोक को एक विशाल साम्राज्य विरासत में मिला था जिसे उसके दादा चन्द्रगुप्त ने विभिन्न प्रदेशों को जीत कर निर्मित किया था। अशोक का साम्राज्य साम्राज्य का भारत की सीमा से सुदूर दक्षिण तक और ताम्रपर्णी (लका) विस्तार तक फैला हुआ था।

उसके साम्राज्य की सीमाएँ स्तम्भों और पर्वतों की चट्टानों पर खुदे उसके शिलालेखों की स्थिति से स्पष्ट होती हैं। उसके चट्टानों वाले शिलालेख निम्न-शिलालेखों के लिखित स्थानों पर मिलते हैं : (१) पेशावर के निकट साह-बाग़गढ़ी में, (२) उसी प्रान्त के मानसेहरा में, (३) देहरादून के निकट कालसी में, (४) जूनागढ़ के निकट गिरनार में, (५) बम्बई राज्य के सोपारा में, (६) भुवनेश्वर के निकट धौली में, (७) गंजाम जिले के जीगड़ में, (८) मैसूर राज्य के चित्तलदुर्ग में, जहाँ सिद्धपुरा, जटिगरामेश्वर, और ब्रह्मगिरि नामक तीन स्थानों पर लघु शिलालेख भी मिले हैं, (९) जबलपुर के निकट रुपनाब में, (१०) बिहार प्रान्त के सहस्रराम में, (११) जयपुर के निकट बैराट में, (१२) बैराट की अन्य पहाड़ी भाग पर, (१३) हैदराबाद राज्य के मास्की नामक स्थान में, (१४-१५) हैदराबाद राज्य के कोपवाल तालुक के गोदीमठ और पालकीगुच्छु स्थानों पर, (१६) कुरनूल जिले के येरीगुडी नामक स्थान पर, (१७) मध्यप्रदेश के गुज्जरा नामक स्थान पर, जहाँ लघु शिलालेख मिले हैं, (१८) तक्षशिला में अरामी लिपि में लिखा हुआ लेख, (१९) कन्दहार के निकट जहाँ यूनानी और अरामी दो लिपियों में लिखा हुआ शिलालेख हाल ही में प्राप्त हुआ है।

उसने पाषाण स्तम्भों पर भी अपनी विजयिणी खुदवाई जो निम्नलिखित स्थानों पर मिलती हैं : (१) अम्बाला के निकट तोपरा, (२) मेरठ। इन दोनों स्तम्भों को फीरोजशाह तुगलक देहली ले आया था। (३) स्तम्भ लेख कौशाम्बी, इस स्तम्भ को शायद अकबर ने इलाहाबाद के किले में रखवाया था। (४) लौरिया अरराज (बम्भारन जिले के राधिया नामक स्थान पर), (५) लौरिया मन्दनगढ़ (उसी जिले के मधिया नामक स्थान पर), (६) रामपुरवा (उसी जिले में), (७) सांची (भोपाल के निकट), (८) सारनाथ (बनारस के निकट), (९) लुम्बिनी (नेपाल में), (१०) तिगाली सागर (नेपाल में)।

शिलालेखों में उसके राज्य की सीमाओं का उल्लेख है। दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सतिमपुत्र, केरलपुत्र और उसके बाद ताम्रपर्णी (लका) उसके पड़ोसी थे

और उत्तर में सीरिया का अन्तिमक योनराजा (अन्तिओकस सीमाएँ द्वितीय विधोस २६१-२४६ ई० पू०) उसका पड़ोसी 'अन्त' कहा गया है। अशोककालीन भवनों के अवशेष कश्मीर, नेपाल, बंगाल और चोल-द्रविड प्रदेशों में पाये जाते हैं।

साम्राज्य का अधिपति राजा था। उसकी सहायता के लिए (१) उपराजा, (२) युवराज, (३) कुमार, जिन्हें वह प्रान्तों में नियुक्त करता था, (४) 'राजक' अथवा 'प्रादेशिक' (गवर्नर) और (५) परिषत् (समिति) प्रशासन होते थे। उच्च पदाधिकारी 'महामात्र' कहलाते थे। तक्षशिला, उज्जैनी, तोसली (उड़ीसा) और सुवर्णनगर (मैसूर) नामक प्रान्तीय राजधानियों में कुमार (वाइसराय) नियुक्त किए जाते थे।

राजक शत-सहस्र-प्राणियों पर शासन करते थे और शान्ति एवं न्याय की रक्षा करते थे।

राजा के वैयक्तिक सचिव 'प्रतिवेदक' कहलाते थे। वे राजा को प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर जनता की स्थिति से अवगत रखते थे। उसके राजदूत दूत कहलाते थे।

प्रधानमंत्री को 'अग्रामात्य' कहते थे और अन्य मंत्री महामात्र कहलाते थे। ये अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष होते थे। धर्ममहामात्र, जिन्हें अशोक ने सर्व-प्रथम नियुक्त किया था, नैतिक आचार के मंत्री थे।

राजकीय कर्मचारी, जिन्हें 'पुरुष' कहते थे, तीन श्रेणियों के होते थे: उच्च, मध्यम और अधम (स्तम्भलेख १)। निम्न श्रेणी के कर्मचारी 'युक्त' कहलाते थे।

महामात्र 'ग्रामावास' (ग्राम के निवासियों के घर), 'सेतु' (सार्वजनिक कार्य), 'शाला' (तालाब और भवन, जैसा कि बुद्धघोष की व्याख्या से प्रतीत होता है) के निरीक्षण के लिए दौरा करते थे। उपराजाओं दोरे (अनुसंधान) को पाँच वर्षों में और राज्यपालों को तीन वर्षों में अपने-अपने दोरे पूरे करने पड़ते थे (शिलालेख १ और ३)।

राजा का दौरा धर्मयात्रा कहलाता था। यह एक प्रकार की तीर्थयात्रा होती थी (शिलालेख ८), जिसमें राजा गाँव का दौरा करता था, बुढ़ों और संन्यासियों को दान देता था, गाँव-बस्ती की हालत देखता था

धर्मयात्रा (जानपदस्थ जनस्य दर्शनम्) और धर्म-संबन्धी प्रवचन करता था। अशोक ने संबोधि (जोध गया, जहाँ बुद्ध ने संबोधि प्राप्त की थी), लुम्बिनी (जहाँ उनका जन्म हुआ था) और बुद्ध कोनाकमन (कनक मुनि) के स्तूप आदि बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। इस राज-यात्री की पाटलिपुत्र से इन स्थानों की यात्रा की प्रगति के सूचक स्तम्भ अब तक विद्यमान

हैं और उसके विभिन्न चरणों की सहाय्य देते हैं।

धर्म महामात्र के अर्थात् इस मंत्रालय का कार्य सब वर्गों, श्रेणियों, सम्प्रदायों और स्तरों के लोगों का नैतिक उत्कर्ष करना था। इस कार्य का क्षेत्र उन्हीं लोगों तक सीमित नहीं था जो अशोक की प्रजा थे बल्कि उन नैतिक मंत्रालय तक भी फैला हुआ था जो उसके राज्य की सीमाओं पर रहते थे, जैसे उत्तर के योन, कम्बोज, गन्धार और पश्चिम के अफरान्त तथा राष्ट्रिक और पित्तिनिक आदि।

अशोक सामान्य मनुष्य का हितैषी था जिसके लिए उसने विविध प्रकार के सार्वजनिक उपयोगिता के कार्य किए थे। उसने सड़कों के किनारे आम और बरगद-जैसे उपयोगी वृक्ष लगवाकर, आधे-आधे कोस पर सार्वजनिक कुएँ और सरायें बनवाकर यात्रा को सुखद बनाया। पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा के लिए उसने चिकित्सालय खुलवाए और उनमें औषधियों की समुचित व्यवस्था की। इसके लिए उसने बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ और फलों के पेड़ बाहर से मँगवाकर लगवाये। चिकित्सालयों में चिकित्सकों का समुचित प्रवन्ध किया गया (शिलालेख २)। उसकी दूसरी पत्नी चारुवाकी (कारुवाकी) ने आश्रम-वन, भिक्षुओं के लिए आराम और दानगृहों के दान दिये (रानी का लेख)।

अशोक ने पाश्चात्य देशों को भी अपने मानवीय कार्यों की परिधि में सम्मिलित किया और तेरहवें शिलालेख में वर्णित (१) अन्तियोक

पश्चिमी देशों (सिरिया का अन्तियोकस द्वितीय बिरोस २६१-२४६ ई० में कल्याण-पू०), (२) तुरमय (मिस्र का टोलेमी द्वितीय २८५-२४७ ई० पू०), (३) अन्तिकिनि (मकदूनिया का एन्टीगोनस मोनेतस, २७८-२३९ ई० पू०), (४) यक (सिरोन का मगस ३००-२५८ ई० पू०) और (५) अलिकसुदरो (एपरिस का एलेग्जेण्डर, २७२-२५८ ई० पू०) नामक पाँच पाश्चात्य राजाओं के राज्यों में दुःख-निवारण के निमित्त चिकित्सकों के मण्डल भेजे।

अशोक ने इन पाश्चात्य राज्यों में अपने दूत भेजे जो उसकी धर्म-विजय के संदेश-वाहक थे। धर्म-विजय—हिंसा और घृणा से परिपूर्ण सैनिक विजय के विपरीत भातृत्व-भाव से समन्वित नैतिक विजय का पर्याय

धर्म-विजय था। उसने धर्मघोष द्वारा भेरीघोष की बन्द कर दिया (शिलालेख ४)। रण-दुन्दुभि का निनाद शान्ति की घण्टियों की टन-टन में विलीन हो गया। अशोक ने इस प्रकार युद्ध का बहिष्कार करके विश्वशान्ति के प्रथम प्रवक्ता का पद प्राप्त किया।

धर्म विजय का यह सिद्धान्त उस नैतिक क्रान्ति का फल था जो कलिंग की विजय और उसकी हिसामयी विभीषिकाओं से अशोक के मन में उत्पन्न हुई थी। उसने स्वयं कहा है: "जब कोई अभिजात देश जीता जाता है तो वहाँ वध, मरण और अपवाह (देशनिकास) का बोलबाला हो जाता है"। इस हिंस्र विजय में जितनी

हत्याएँ लादि हुईं उनका वर्णन इन शब्दों में किया गया है: "एक लाख पचास हजार व्यक्ति बन्दी बनाए गये, एक लाख मारे गये, और इन से कई गुने युद्ध में लगे पावों से मर गये।" युद्ध से उत्पन्न इस भयंकर नर-संहार से उसे असीम खेदना हुई। अशोक का मन पश्चात्ताप से इतना आप्लावित हो गया कि उसने सदा के लिए युद्ध को तिलांजलि देकर अहिंसा का धर्म ग्रहण कर लिया।

उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस तबीन धर्म का प्रयोग किया। राजकीय रसोई में पशुवध को बन्द करके उसने अपना घरेलू जीवन पवित्र किया। उसके समय में मनोरंजन के लिए समाज होते थे। इन समाजों में पशुओं और पक्षियों की लड़ाई होती थी। नृत्य-संगीत के साथ मोच के लिए पशु-पक्षियों का वध किया जाता था। अशोक ने यह समाज बन्द करा दिये। प्रत्युत उसने उन तमाशों को प्रोत्साहन दिया जिनसे धर्म और सदाचार की प्रेरणा मिलती थी जैसे सदाचारी व्यक्तियों के स्वागत के लिए लड़े दिव्य रूपों का प्रदर्शन आदि।

उसने यह नियम बना दिया कि कुछ जीवों को छोड़कर शेष जीवधारियों को भोजन के निमित्त न मारा जाए। न ही घासिक कृत्यों में उनका वध किया जाए। एक स्तम्भ लेख में ऐसे पशुओं की संरक्षणा है जिन्हें न मारा जा सकता था न बधिया किमा जा सकता था।

प्रतिवर्ष राजा की कप-नाट पर बन्दी मुक्त किए जाते थे।

उसने सब मनुष्यों को कानून की दृष्टि से समान घोषित किया (व्यवहार समता) और सब को न्याय और दण्ड की समानता (दण्ड-समता) का वरदान दिया।

ग्रामों और तीर्थों में उसके दोरे दान के लिए प्रसिद्ध थे। हम देख चुके हैं कि अशोक अपनी धर्मयात्राओं में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और बुद्धों को बहुत दान देता था। अभिषेक के बीसवें वर्ष में (२५० ई० पू०) लुम्बिनी राजकीय दान धाम (जहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था) की तीर्थयात्रा करते हुए उसने विशिष्ट दान दिए। उसने उस स्थान की पवित्रता के स्मारक के रूप में वहाँ एक स्तम्भ ही नहीं खड़ा कराया, जिस पर यह लेख खुदा हुआ था कि यहाँ तपोसत का जन्म हुआ, वरन् उस गाँव के सब

जालि (शुल्क) माफ कर दिए (उधालिके) और वहाँ के जमान की सदा के लिए उपज की एक चौथाई से घटाकर आठवाँ हिस्सा कर दिया। उसने आजीविकों के लिए तीन स्थानों पर युफाओं में निवास बनवाकर दान दिये।

व्यक्तिगत रूप से अशोक बौद्ध था। यास्की के शिलालेख में उसने अपने आपको बौद्ध-शास्त्र कहा है। भग्न के धर्म लेख में उसने बौद्ध विरल को नमस्कार किया है और बौद्ध शास्त्रों से चुने हुए अंग उद्धृत किए हैं।

धर्म सांची, सारनाथ और कोशाम्बी के अभिलेखों में वह संघ की एकता के प्रतिपादक के रूप में सामने आता है और संघभेद करने वालों को संघ से निकाल बाहर करने की धमकी देता है।

किन्तु अपने धर्मलेखों में उसने उस धर्म का प्रचार किया है जो सब लोगों को ग्रहण हो। यह धर्म सार्वजनिक नैतिक कर्तव्यों पर आधारित है। इसकी गणना यह इस प्रकार करता है: (१) माता-पिता, बूढ़, आचार्य और ऊँचे स्तर के व्यक्तियों की आज्ञाओं का पालन करना, (२) संबंधियों, मित्रों, सेवकों और परिचारकों और निधन और दुखी व्यक्तियों और सन्नाहियों और धरल पशुओं के प्रति सद्ब्यवहार करना, (३) दान, (४) अहिंसा, (५) दया, सत्य, शौच (अंदर और बाहर की) मार्दव, साधुता, संयम, भावशुद्धि और समाधरण (सब के प्रति समान व्यवहार करना) का अन्यास करना।

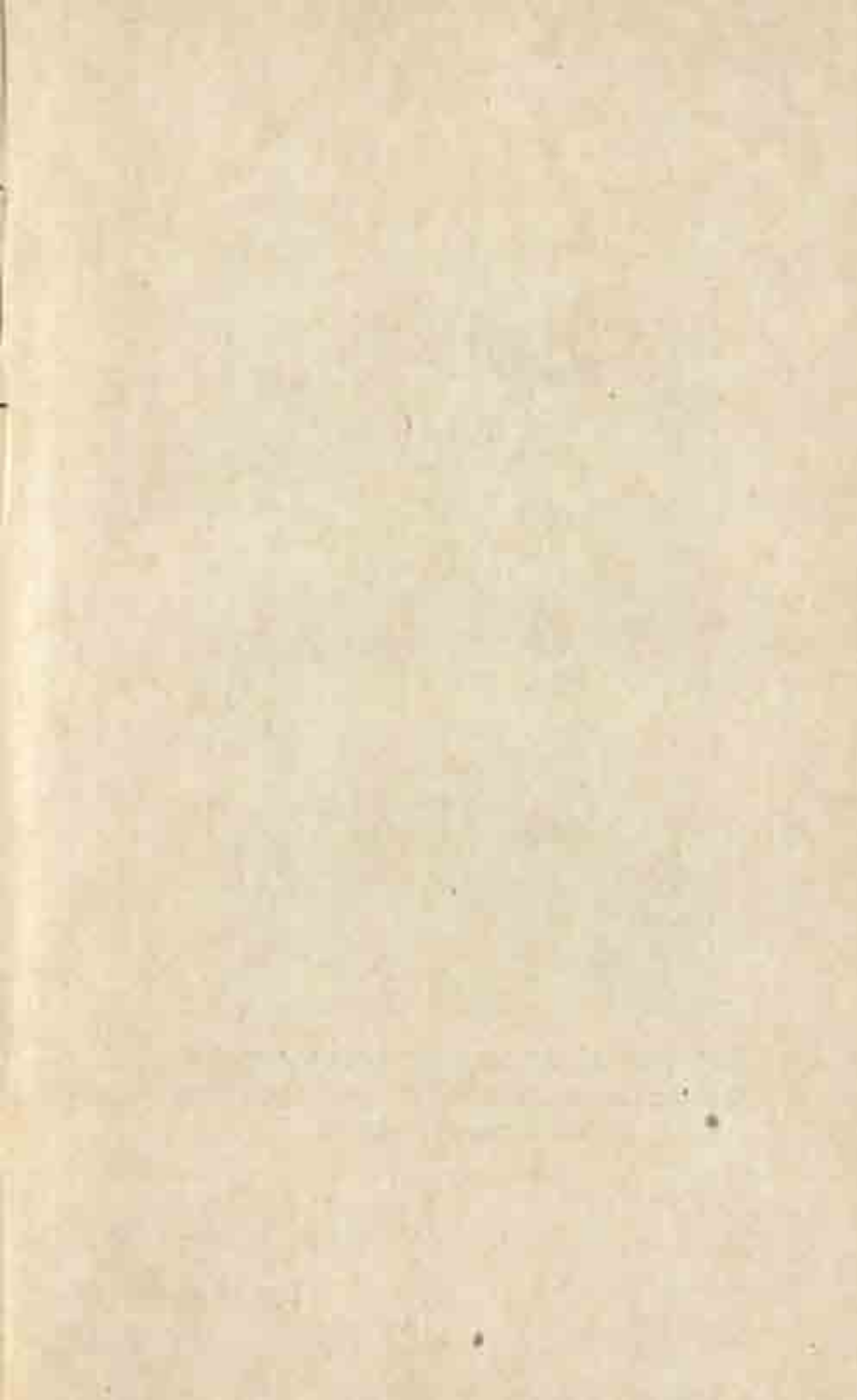
उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने धर्म में कर्मकांड को कम महत्व दिया और सदाचार और नैतिक व्यवहार को बहुत बल दिया जो वास्तविक धार्मिक कर्मकांड (धर्म-मंगल) हैं।

इसी प्रकार दान में उसने धर्मदान (नैतिक उपदेश के दान) को भौतिक स्रवर पदार्थों के दान से अधिक महत्व दिया है।

अशोक ने धार्मिक जीवन की आवश्यकताओं का भी निर्देश किया:—(१) धर्म-निष्ठ (नैतिक जीवन का संयम), (२) निश्चिन्ता (ध्यान जिसमें आत्म-चिन्ता अथवा आत्म-परीक्षा भी शामिल है) और (३) सब कुछ छोड़ कर पराक्रम (अत्यन्त परिश्रम जिससे सब बातों का त्याग किया जाए)।

धार्मिक विविधता के इस देश में अशोक ने उनकी एकता के आधार अथवा मौलिक सार पर जोर दिया। विभिन्न धर्मों के प्रवचनों को सुनने के लिए (बहुश्रुत होने के लिए) समितियों में एकत्रित होकर (समवाय) और धार्मिक आलोचना की प्रवृत्ति को नियंत्रित करके (बन्धुगुप्ति) धार्मिक सहिष्णुता साध्य होती है (शिलालेख १२)।

महावंश जैसे साहित्यिक ग्रन्थों में अशोक के विषय में कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं जो उसके अभिलेखों में अप्राप्य हैं। उदाहरण के लिए उनसे पता चलता है कि





प्रसिद्ध चीनी यात्री श्वान चाङ, भारत से बहुत सी पाण्डुलिपियाँ लेकर चीन लौट रहा है। ऊपर की ओर एक लैम्प लटक रहा है और उसके हाथ में एक चेंबर है।

तीसरी बीड़ संगीति

उसके राज्य की महत्वपूर्ण घटना पाटलिपुत्र में मोग्गलिपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में तीसरी बीड़ संगीति का आयोजन था। इस समिति (संगीति) में कबावतू तैम्यार की गई और विपिटकों के पारामण के लिए १००० स्वविरों की एक विशेष संगीति नियुक्त की गई।

इसके बाद संगीति ने भारत और विदेशों में—भारत में कश्मीर, गन्वार, हिमालय, यवन या वनवासी में और उससे बाहर लंका और सुवर्णभूमि (दक्षिणी बर्मा और सुमात्रा अथवा समस्त मलय प्रायद्वीप) में—बीड़ सिद्धान्तों के प्रचार के लिए प्रचारकों के दल भेजे। हिमालय में मज्जिम, अपरान्तक में धर्मरक्षित (यवन) और लंका में सुवराज महेंद्र भेजे गये। उन्हें शिलालेख १३ में दूत कहा गया है। मोग्गलिपुत्र और मज्जिम के नाम साँची के द्वितीय स्तूप की एक अस्थि-संज्ञा पर खुदे हुए मिले हैं। शिलालेख ५ में अपरान्तक प्रदेश का भी वर्णन है। ऐसे प्रदेश में योन, कम्बोज, राषटिक, पित्तिनिक आदि रहते थे। इस प्रकार शिलालेखों से कथानकों की मध्यावस्था सिद्ध होती है। धर्मलेखों में अशोक को प्रायः 'देवानों पिय पियदसि लाजा' कहा गया है। यास्की के लेख में उसका नाम अशोक मिलता है। मगध लेख में अशोक ने अपने आप को 'पियदसि लाजा मगधे' अर्थात् 'मगध का प्रियदर्शी' राजा कहा है।

अशोक अपनी स्थापत्य-संबन्धी-कृतियों के लिए प्रसिद्ध है। परम्परा के अनुसार उसने कश्मीर में श्रौतगर नामक नगर की स्थापना की और वहाँ ५००

कला और स्थापत्य

बीड़ भिक्षुओं को बसा कर उनके लिए बिहार बनवाए। इनमें से कुछ को शताब्दियों बाद स्वान-चाङ ने देखा था। उसने अपनी पुत्री चारुमती को नेपाल भेजा और वहाँ उसके लिए देव-पतन नामक नगर बसाया। उसने पाटलिपुत्र नगर में भी सुन्दर भवन बनवाए जिन्हें ६०० वर्ष बाद चीनी यात्री फा-ह्यान ने देखा। उसने इस नगर का वर्णन इन शब्दों में किया "देवताओं ने पत्थरों को उठा-बढ़ा कर दीवारें और द्वार बनाए और उनमें सुन्दर पञ्जीकारी और बुवाई-भराई का ऐसा उत्कृष्ट काम किया कि संसार में किसी भी व्यक्ति का हाथ उसे सम्पन्न करने में असमर्थ है।"

अशोक ने अनेक स्तूप बनवाए जिनमें से ८० को स्वान-चाङ ने अपनी आँखों से देखा।

अशोक की महत्तम कृति स्तम्भ है। में सभी एकात्मक अर्थात् पत्थर के एक ही टुकड़े से काटकर बनाये गये हैं। इनकी पालिश (चिकनाहट) के रहस्य को आज के कारीगर भी नहीं समझ सकते। ये इतना चमकदार हैं कि कुछ योरोपीय यात्रियों में कुछ ने इन्हें 'पीतल' का समझा, कुछ ने इन्हें किसी 'धातु' का डला हुआ जाना अथवा 'संगमरमर' का बना समझा। स्तम्भ शीर्ष से सुसज्जित होता है

जिसकी चोटी सिंह, हाथी, साँड़ आदि पशुओं के आकार की होती है। सारनाथ में यह शीर्ष और उसकी चोटी चक्र के आकार की है जो चार सिंहों पर टिका है और शक्ति के स्थान पर सत्त्व तथा बल की जगह विवि के राज्य का प्रतीक है। यह शीर्ष सारनाथ में बुद्ध द्वारा दिए गये धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र नामक प्रवचन के सार को पत्थर में अभिव्यक्ति है। सिंहों से नीचे बगों (एवैकस) पर पाँच मूर्तियाँ हैं जो बुद्ध के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं के सूचक हैं। हाथी, बैल, घोड़ा और सिंह क्रमशः दिव्य बालक के गर्भाधान, जन्म निष्क्रमण और सिद्धि के परिचायक हैं। उनके बीच में दिखाया हुआ चक्र बुद्ध के आध्यात्मिक का प्रतीक है।

ये सभी स्तंभ चुनार के पत्थर के बने हैं। इनका निर्माण पाटलिपुत्र के किसी कारखाने में हुआ था। इनकी विजाइन एक ही प्रकार की है। इनकी ऊँचाई लगभग ५० फुट और भार लगभग ५० टन होता था। मेरठ जैसे सुदूर स्थानों में जो लगभग १००० मील हैं, ये स्तम्भ स्थापित किए जाते थे। भारी बगों और बाहनों के द्वारा ही इतने विशाल और भारी स्तंभों को एक जगह से दूसरी जगह भेजा गया होगा।

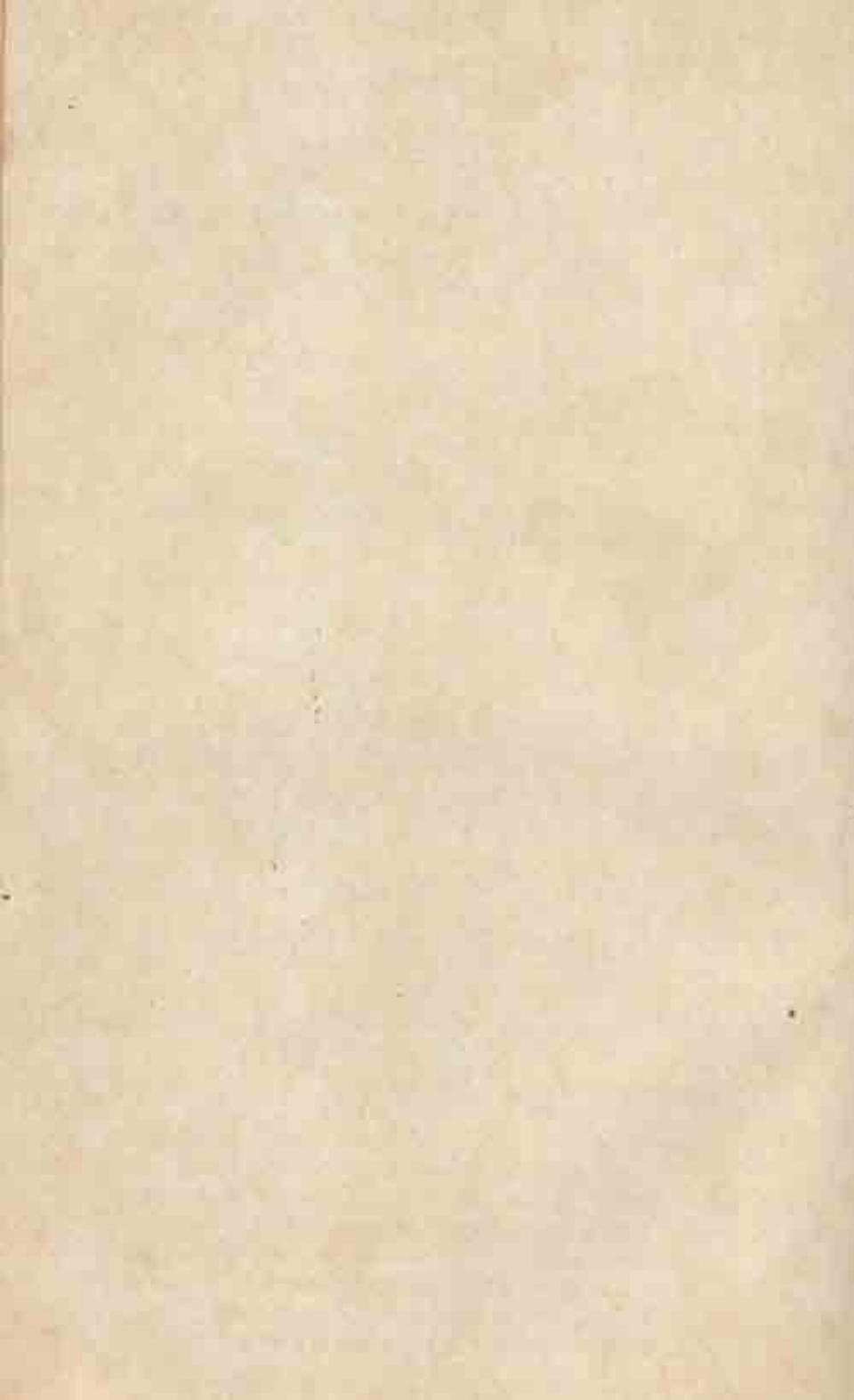
अशोक ने गंगा के निकट बाराबर और नागार्जुनी की पहाड़ियों में चट्टानें काट कर गुफाएँ बनवाई थीं। इनमें से ४ के साथ अशोक का और तीन के साथ उसके पौत्र दशरथ का नाम जुड़ा हुआ है जैसा कि उनपर **गुहावास** खुदे लेखों से प्रकट होता है। समस्त पहाड़ी को खलौतक पर्वत कहा गया है। शिला लेखों से पता चलता है कि अशोक ने ये गुफाएँ आजीविक श्रमणों के लिए बनवाकर अपनी उदारता का परिचय दिया था। इन गुफाओं को दीवारों और छतों पर मौर्यकालीन पालित्र (चिकनाहट और चमक) मिलती है।

मौर्य अभिलेखों में सुवर्ण-सिकता, पलाशिनी आदि नदियों के जल को रोककर दुर्जयंत पर्वत पर एक बाँध बनाया जा जिससे एक बहुत बड़ी **सुवर्णेश क्षील** क्षील बह गई थी जहाँ सिंचाई के लिए जल इकट्ठा किया जाता था और नालियों (प्रणालियों) द्वारा इसे खेतों तक पहुँचाया जाता था। जैसा कि १५० ई० पू० के शक राजा रुद्रदामा के शिलालेख से ज्ञात होता है, यह क्षील सौराष्ट्र में स्थित थी जहाँ अशोक का राज्यपाल गवत राजा तुषाण का शासन था। यह तुषाण विदेशी था। अशोक ने अपनी उदारता का परिचय देकर इसे इतने दायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया था।

शिलालेखों में केवल उसकी दूसरी पत्नी वास्वाकी का जो राजकुमार तीवर की माता थी, और उसके पौत्र दशरथ का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थों से



सारनाथ का अशोक स्तम्भ : अपने प्राचीन स्वरूप में (पत्नी ब्राह्मण की पुस्तक "इण्डियन आर्कोटेक्चर" के चित्र ५ पर आधारित) इसमें धर्म-चक्र चार सिंहों के कंधों पर स्थित है, सिंहों की पीठ एक दूसरे की पीठ से मिली है (बनारस के सारनाथ म्यूजियम में भी ऐसा ही है)। प्राचीन असली चक्र स्तम्भ से प्रयुक्त कर लिया गया था और टुकड़ों के रूप में म्यूजियम में रखा है। इसे (धर्म-चक्र को) भौतिक और पाशविक शक्तियों (सिंह जिनके प्रतिनिधि के रूप में हैं) से महान् माना गया है और यह इस बात का प्रतीक बन गया था।



अशोक के
संबंधी

उसके निम्नलिखित संबंधियों का पता चलता है: उसकी पत्नी देवी का पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा, उसकी पत्नी पद्मावती का पुत्र कुषाल, उसका अन्य पुत्र जलौक, उसका पौत्र और कुषाल का पुत्र सम्प्रति और उसकी दो अन्य पत्नियाँ असमित्रा और तिप्परक्षिता ।

कथाओं के अनुसार अशोक का अन्त दुःखद हुआ । अपने पौत्र सम्प्रति को राजा बैकर वह स्वर्ग सिधारा । सम्प्रति ने उसके अन्तिम दिनों में बौद्ध-संघ को अशोक का दिए गये दान बन्द कर दिए और प्रतीक रूप में उसका भत्ता अस्त जाया आमलक (आमला) मात्र निश्चित किया ।

उसके उत्तराधिकारियों के जैसे, कुषाल, जलौक, दशरथ सम्प्रति (जो जैन धर्म का संरक्षक था) आदि के नाममात्र मिलते हैं । पुराणों के अनुसार अन्तिम मौर्य सम्राट् शालिशुक और बृहद्रथ थे । शालिशुक के दुर्बलता-उत्तराधिकारी पूर्ण राज्यकाल में पाटलिपुत्र पर सबनों ने धावा किया था ।

बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र ने उसे हटाकर शुंगवंश का राज्य स्थापित किया । पुराणों में लिखा है कि "सेनापति पुष्यमित्र (पुष्यमित्र) अपने स्वामी को हत्या करके चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के १३७ वर्ष बाद (अर्थात् १८६ ई० पू०) में राज्य करेगा " । यह कथा बाण के हर्षचरित में दोहराई गई है जिसमें लिखा है कि " पुष्यमित्र ने एक सैनिक प्रदर्शन में अपने स्वामी की हत्या की । "

कुछ विद्वानों के मतानुसार मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण अशोक की शान्तिप्रिय नीति थी जिसके फलस्वरूप उसने भेरी-घोष को धर्मघोष में परिवर्तित कर दिया । किन्तु अशोक के आदर्श महान थे ।

मौर्य साम्राज्य का अन्त वह युद्ध बंद कर तथा जोर-जबर्दस्ती के स्थान पर न्याय और कानून के राज्य की स्थापना कर के मानवता की हितों के अभिशाप से बचना चाहता था । आज भी मानवता

इन आदर्शों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रही है, इसलिए इन महान आदर्शों के लिए हम अशोक को दोषी नहीं ठहरा सकते । अशोक ने अपनी सैनिक शक्ति को अधोमुख रखा जिससे वह आर्टिफिकल जैसी विद्रोही जंगलों जातियों जैसे असामाजिक तत्वों के आघातों से सत्य के राज्य को रक्षा करने में सफल हुआ । अतः हम उसे इन जातियों की नैतिक जीवन के आदर्शों से च्युत न होने की चेतावनी देते पाते हैं । सत्य यह है कि साम्राज्य अपने विघात की दुर्बलताओं के फलस्वरूप ही सृष्ट हुआ । शासक अपने वैयक्तिक गुण विरासत में अपने उत्तराधिकारियों को नहीं दे सकता । अशोक के बाद सिंहासन पर बहुत छोटे स्तर के व्यक्ति आए जो उसके महान् व्यक्तित्व की संयोजक शक्ति के हट जाने पर इतने विस्तृत साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधकर न रख सके ।

मौर्योत्तर राज्य

(१) शुंग-वंश (लगभग १८६-६५ ई० पू०)

साहित्यिक कृतियों से पुष्पमित्र के राज्यकाल पर प्रकाश पड़ता है। कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्र का नायक पुष्यराज अग्निमित्र है। उसके साले वीर-पुष्पमित्र (लग- सेन ने जो नर्मदा प्रदेश का अन्तपाल या विदर्भ से मौर्षी अधि-भग १८६-१५० कारी यज्ञसेन को निकाल बाहर किया।

ई० पू०)

अपनी शक्ति को दृढ़ करके पुष्पमित्र ने अपने प्रभुत्व की पुष्टि के लिए खड्गमेघ यज्ञ किया। यूनानियों ने उसके प्रभुत्व को चुनौती दी। अग्निमित्र के वीरपुत्र असुमित्र ने इस चुनौती को स्वीकार किया और यूनानी आक्रमण १०० सामन्तों को साथ लेकर सिन्धु तट पर (जो चम्बल या यमुना की सहायक नदी है अथवा रमेशचन्द्र मजूमदार के मतानुसार सिन्धु नदी है) यूनानियों से युद्ध किया।

वैश्याकरण पर्वजलि ने अपने 'महामाध्य' में यवनों द्वारा साकेत और माध्य-मिका के घेरे का उल्लेख किया है (अरुणत् यवनः साकेतम्; अरुणत् यवनः माध्यमिकाम्)। गार्गी-संहिता के युगपुराण में दुष्ट और विक्रान्त यवनों द्वारा पाटलिपुत्र अथवा कुमुदध्वज की विजय के उद्देश्य से साकेत, पंचाल और मगधा

के लोगों के साथ मिलकर मध्यदेश पर आक्रमण करने का (प्राप्स्यति) उल्लेख है। अभयनन्दी की महावृत्ति में अरुणन्महेन्द्रो मधुराम् वाच्य मिलता है। पंचाल और मधुरा के इन राजाओं (पाप्सिवी) का पता उनकी मुद्राओं से चलता है जिन्हें मित्र-मुद्रार्ण कहते हैं। हाल ही में मिले एक मुद्रा-संग्रह में पंचाल-वंश के २१ मित्र राजाओं की मुद्रार्ण मिली हैं। स्वावी के विवरण से ज्ञात होता है कि यवन गंगा और पार्लीबोधा (पाटलिपुत्र) तक बढ़ आये थे। सौभाग्यवश से आक्रमणकारी आपस में लड़ पड़े और मध्यदेश से वापिस लौट गये।

पुष्यमित्र ने यूनानी आक्रामकों को पीछे डकेल दिया (परान् पराजित्य) और अपनी महान् विजय के उमल्लस में एक दूसरा अवशमेघ यज्ञ किया जिसमें पतंजलि ने स्वयं पुरोहित का कार्य किया जैसा कि महाभाग्य के अवतरण इह पुष्यमित्रं राजवामः (हम पुष्यमित्र के लिए यहाँ (विदिशा में) यज्ञ कर रहे हैं) से प्रकट होता है। इस वाक्य से यह भी प्रतीत होता है कि यज्ञ के जटिल उपचार उस समय तक चल रहे थे जब यह लिखा गया।

सम्भवतः इसके बाद पुष्यमित्र कलिंग के राजा सारवेल के साथ संघर्ष में सफल हो गया। सारवेल के हाथीमुग्धा शिलालेख में इसकी और इशारा है। इसमें लिखा है कि अपने राज्य के आठवें वर्ष में सारवेल ने राजगृह (मगध) के राजा को बना दिया और गौरधगिरि (बाराबर पहाड़ी) के दुर्ग पर धावा बोला। मगध के राजा का नाम बहुस्पतिमित (बहुस्पतिमित्र) लिखा है जो पुष्यमित्र का स्थानांतर है क्योंकि पुष्य और बहुस्पति पर्यायवाची हैं। यह शिलालेख सौर्यकाल के १६५ वें वर्ष में अर्थात् १५८ ई० पू० में लिखा हुआ माना जाता है।

अयोध्या के एक मन्दिर के शिलालेख में 'दो अवशमेघ यज्ञ करने वाले' (द्विरवशमेघयावी) सेनापति पुष्यमित्र का उल्लेख है और कोशल प्रदेश के राजा (कोशलाधिप) धनदेव की अर्चा है जो उसके वंश की छठी पीढ़ी में था। उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा का गोप्ता अर्थात् राज्यपाल था और वीरसेन नर्मदा प्रदेश का प्रशासक था। पाटलिपुत्र, अयोध्या और विदिशा नामक नगरों से उसके राज्य की सीमाओं पर प्रकाश पड़ता है। पतंजलि के अनुसार एक सभा शासन कार्यों में पुष्यमित्र का हाथ बढ़ाती थी।

दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र एक कट्टर ब्राह्मण था और बौद्ध धर्म का पक्का शत्रु था और उसने बौद्ध विहारों पर काफी प्रहार किए किन्तु विदिशा के निकट भरहुत में उसने दान द्वारा अनेक बौद्ध स्तूपों का निर्माण होने दिया। यह उसकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। भरहुत के एक 'सुगतम् राजे' शिलालेख में लिखा है कि ये स्तूप

शुर्गी के राज्य में (सुगन राजे) में ।

पुराणों में पुण्यमित्र के उत्तराधिकारियों के नाम आये हैं और उनका राज्यकाल भी लिखा है। इनकी संख्या १० है किन्तु उनमें से बहुत से पुण्यमित्र के नाममात्र हैं। इनमें अग्निमित्र और भाग महत्वपूर्ण थे। जैसा कि हम लिख चुके हैं अग्निमित्र भालविकाम्निमित्र नाटक का नायक है जिसमें उसकी 'मन्त्रिपरिषद् और अमात्य परिषद्' का उल्लेख है। राजा भाग विदिशा (बेसनगर) के गरुड-ध्वज स्तम्भ पर खुदे एक शिलालेख में वर्णित राजा भागमित्र प्रतीत होता है। इस लेख का तात्पर्य यह है कि (१) यूनानी राजा अन्तलिफिज (अन्तियालसिस इस लगभग १२० ई० पू०) ने विदिशा के इस भारतीय राजा की सभा में तक्षशिला-निवासी हे लिप्योद्धार को अपना दूत बनाकर भेजा था और (२) यह यूनानी वैष्णव ही गया था और अपने आपको भागवत कहता था और इसने अपने इष्टदेव देवदेव वासुदेव को एक गरुडध्वज अर्पित किया था, जिस पर, दम (आत्मनिग्रह), छाग (त्याग) और अप्रमाद (सतर्कता), ये तीन अमर सत्य खुदवाए थे।

यह उल्लेखनीय है कि जैसे सांची अशोक के समय से बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था वैसे ही विदिशा भागवत धर्म का प्रमुख स्थान था।

अन्तिम शुंग राजा देवभूति था जो भोग विलासिता में डूबा रहता था। उसका अमात्य वासुदेव था। उसने अपने एक भ्रात्रे से देवभूति की हत्या करा दी और काण्वायन वंश की नींव डाली।

२. काण्वायन वंश (लगभग ७५-३० ई० पू०)

इस वंश के राजा आह्वान थे और डिज कहलाते थे। पुराणों में इस वंश के चार राजाओं का उल्लेख मिलता है और उनका राज्यकाल ४५ वर्ष बताया गया है।

३. आण्ड (लगभग ३० ई० पू० २५० ई० पू०)

सिमुक ने अपने साधियों के साथ मिलकर काण्वायनों को हटाकर आन्ध्रवंश का राज्य स्थापित किया।

आण्ड बहुत प्राचीन जाति था जिसका उल्लेख वैदिक ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' (७-२००० ई० पू०) में मिलता है। इसमें उन्हें विन्ध्य के दक्षिण में रहने वाले अनाथ जातियों में गिना गया है। अशोक के एक शिलालेख में उन्हें अर्धस्वतंत्र जाति बताया गया है। प्लिनी के काल में (प्रथम शती ई०) उन्होंने सक्ति प्राप्त करके अपना राज्य स्थापित किया। इनके ३० दुर्ग थे। आण्डों की सेना में १,००,००० पैदल २००० घुड़सवार और १००० हाथी थे।

पुराणों में उन्हें आन्ध्र कहा गया है किन्तु शिलालेखों में उनका शातवाहन नाम आया है जिससे उनके कुल का आभास मिलता है।

अधिकांश पुराणों में १९ आन्ध्र राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने कुल मिलाकर ३०० वर्ष तक (लगभग ३० ई० पू० से २५० ई०) राज्य किया। यहाँ हम उनमें से कुछ महत्वपूर्ण राजाओं का वर्णन करेंगे।

यह तीसरा आन्ध्र राजा था। नानाघाट के दर्रे में कुल उभरी हुई मूर्तियाँ मिलती हैं, जिन पर नाम खुदे हैं। इनमें एक तिमूक शातवाहन की मूर्ति है और दूसरी पर रागी नामिका (नागमनिका) और राजा शात-शातकर्ण प्रथम कर्ण के नाम खुदे हैं। शिलालेखों में शातकर्ण को दक्षिणा-पथपति कहा गया है। साँची के एक शिलालेख में कारीगरों की श्रेणी के एक प्रमुख कार्यकर्ता का उल्लेख है जो राजन् श्री शातकर्ण के यहाँ नौकरी करता था। इससे प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा उसके राज्य में अवश्य शामिल रहा होगा। इस राजा ने अश्वमेध यज्ञ करके शातवाहनों की सावंभीम सत्ता स्थापित की। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। बहु सारवेले के शिलालेख में वर्णित शातकर्ण भी संभवतः यही राजा था।

गौतमी पुत्र शातकर्ण (लगभग ११९-१२४ ई०)

एक विदेशी जाति क्षत्रियों ने, जिसका नेता नहपान (११९-१२४ ई०) था, आन्ध्र साम्राज्य की प्रगति को रोक दिया और दक्षिण में बेल्लारी जिले के शातवाहन विहार नामक उपनिवेश की ओर ठेल दिया। किन्तु आन्ध्रों ने गौतमी-पुत्र शातकर्ण के नेतृत्व में अपनी लौयी हुई शक्ति और सत्ता प्राप्त की। शिलालेखों में गौतमीपुत्र शातकर्ण को शक-मयन-महलव और क्षत्रात-जाति का नाश (निमूदन, निरखण) करने वाला कहा गया है। उसकी सैनिक विजय का परिणाम यह हुआ कि नहपान की मूर्तियों को गौतमीपुत्र ने फिर से अपने नाम से टंकित किया। उसकी माता गौतमी बलश्री के नासिक मुहाभिलेख में उसकी विजयों का विवरण मिलता है जिसमें अस्सक (गोदावरी प्रदेश) मुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), कुकुर (उत्तरी कोंकण), अंगूप (नर्मदा-तट पर माहिष्मती प्रदेश), विदर्भ (बरार) और आकर-अबन्ति (पूर्वी और पश्चिमी मालवा) सम्मिलित हैं। उसमें लिखा है कि "उसके घोड़ों ने तीन समूहों का पानी पिया था"।

पुलुमावी (१३०-१५९ ई०)

पुराणों में उसे पुलोमा कहा गया है किन्तु उसके शिलालेखों में उसका पूरा नाम 'वासिष्ठीपुत्र स्वामी श्री पुलुमावी' मिलता है। उसके शिलालेख नासिक, केरल, अमरावती, कृष्णा-गोदावरी प्रदेश, जिसे आन्ध्रपथ कहते हैं, और शातवाहनीय अथवा बेल्लारी के विस्तृत प्रदेश में मिलते हैं। यूनानी

भूगोलशास्त्री टालेमी ने उसे 'वैठान' (पैठन) का सिरो 'प्लोलेमियोस' कहा है ।

वासिस्टी पुत्र श्री शिव शातकर्ण (१५९ ई०-१६६ ई०)

उसे पुलुमावी का भाई और वाक नरपति महाअन्नप वरदामा प्रथम का वामाद माना जाता है । कन्हरी के गुहाभिलेख के अनुसार वरदामा ने उसे दो बार परास्त किया था किन्तु अविद्वर सम्बन्ध के कारण उसे जीवित छोड़ दिया था ।

यज्ञश्री शातकर्ण (१७४-२०३ ई०)

यह अन्तिम महान् आन्ध्र राजा था । उसके शिलालेख कन्हरी (अपरान्त), नासिक और चिवा (कृष्णा जिला) में मिलते हैं और उसकी मुद्राएँ काठियावाड़ से कृष्णा तक के विस्तृत प्रदेश में मिली हैं । उसने एक निराले डंग की मुद्रा चलाई जिस पर जहाज की आकृति बनी है । इससे प्रकट होता है कि उसका राज्य समुद्रतट तक फैला हुआ था और वह अपनी प्रजा को समुद्री व्यापार में सहायता देता था ।

यज्ञश्री के बाद आन्ध्र साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया । उसके उत्तराधिकारी दुर्बल थे और उनका राज्य पूर्वी दक्कन और कन्नड़ प्रदेश तक सीमित था ।

आन्ध्र- महाराष्ट्र पर जामीर राजा इण्वरसेन (२३५-४० ई०) का
साम्राज्य अधिकार हो गया था । इक्ष्वाकु और पल्लव राजवंशों ने
का पतन शातवाहनों को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया ।

इक्ष्वाकुओं का नाम उनके राजा वीरपुरुषदत्त के कारण प्रसिद्ध है जिसने नागार्जुनीकोण्डा के प्रसिद्ध स्तूप का निर्माण कराया ।

पतन के बाद शातवाहन वंश का प्रतिनिधित्व इसकी निम्नलिखित शाखाओं ने किया : (१) कृत्तल, जहाँ का राजा हाल अपनी रचना 'भाषा सप्तशती' के

आन्ध्र- कारण बहुत प्रसिद्ध है । (२) चुटुकुल, जिसका राज्य दक्षिण-
वंश की पश्चिमी भारत में था । इन वंश को मुरानन्द ने परास्त
शाखाएँ किया और जिसे चुटुकुलानन्द ने गद्दी से हटाया । इसके

बाद दो और राजा हुए जिनके राज्यकाल में (तीसरी शती में) पल्लवों ने आन्ध्रपथ और शातवाहनीय पर अधिकार कर लिया । (३) अकोला से प्राप्त १५०० मुद्राओं के एक संग्रह से एक अन्य शातवाहन शाखा का पता चलता है, जिसने ईसा की तीसरी शती तक राज्य किया जब वाकाटकों ने उन्हें परास्त किया । (४) मुद्राओं से दक्षिणी-मराठा-प्रदेश में शातवाहनों को एक अन्य शाखा का भी पता चलता है और उसके राजाओं के नाम मिलते हैं ।

आन्ध्र शासन मुख्यस्थित था । इसकी इकाइयाँ आहार और जनपद कहलाती थीं । प्रशासनिक अधिकारी 'अमात्य' कहलाते थे और सैनिक अधिकारियों की

उपाधि महासेनापति होती थी। यज्ञश्री शातकर्ण के राज्यकाल **आन्ध्र सम्प्रदाय** में अपरान्त में एक असाध्य शासन करता था और नासिक में महासेनापति कार्य करता था। नानाघाट में 'महाराठी' नामक अधिकारी का शासन था।

सातवाहन राजाओं ने बौद्धधर्म और ब्राह्मणधर्म के प्रति समानता का व्यवहार करके अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। शक आदि विदेशी लोगों ने बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म अपनाकर इन प्रदेशों में निवास ग्रहण किया। एक शिलालेख के अनुसार राजा शातकर्ण ने अश्वमेध और अन्य वैदिक यज्ञ किये तथा वामुदेव और संकर्षण आदि हिन्दू देवताओं की उपासना की। गौतमीपुत्र शातकर्ण ने बौद्ध भिक्षुओं को गुफाओं और भूमि के दान दिये। महयान के शक जामाता उपवदात (अवभदस) ने गोवर्धन (नासिक), उज्जयिनी अथवा भ्रुकच्छ (भृगुकच्छ) आदि विभिन्न स्थानों पर ब्राह्मणों के लिए अनेक अनुदान दिये जैसा कि नासिक गुहा के अभिलेखों से प्रतीत होता है।

आर्थिक जीवन श्रेणियों द्वारा व्यवस्थित था। ये श्रेणियाँ आजकल के बैंकों का काम करती थीं। इनमें लोग अक्षय निधियाँ स्थापित करते थे जिन्हें वे लाभ के कामों में लगाती थीं। निधि-स्थापक जिस धर्म-कार्य आदि के लिए निधियाँ स्थापित करते थे, इन निधियों के ब्याज से उन कार्यों के लिए धन दिया जाता था। उदाहरणार्थ नासिक गुहाभिलेख के अनुसार उपवदात ने जूलाहों की बी श्रेणियों (पट्टवाय श्रेणी) के पास क्रमशः २००० और १००० कापचियों की राशियाँ जमा कीं जिन पर वे १२% और ९% ब्याज देते थे। अन्य शिलालेखों से ज्ञात होता है कि कुम्हारों (कुलारिक), यांत्रिकों (उदययात्रिक) और लेखियों (तिलपिक) की श्रेणियों के पास ऐसी ही निधियाँ जमा की गई थीं।

कन्हरी की गुफाओं से प्रतीत होता है कि समुद्री मार्ग से पश्चिमी तट पर आये बौद्ध-भिक्षुओं को वहाँ शरण मिलती थी।

समुद्री मार्गों से आपात-निर्यात का काफी व्यापार होता था। पेरोंप्लस के अनुसार पश्चिम से आया सामान वारीगाबा (भ्रुकच्छ, भड़ौच) के बन्दरगाह **समुद्री व्यापार** पर उतारा जाता था और वहाँ से कल्याण, सुपरिक, वैजयन्ती आदि अन्तर्देशीय नगरों में पहुँचाया जाता था।

भारत से बहुत सा सामान बाहर जाता था। प्रतिष्ठान से मूल्यवान पत्थर और तगर से सूती सामान, सतमल और कपड़े बाहर भेजे जाते थे।

देश की शान्ति-व्यवस्था से इसके दूरवर्ती भागों के पारस्परिक सन्तानता को

प्रोत्साहन मिलता था। उदाहरण के लिए हम व्यापारियों को उनके निवासस्थान से दूर दान देते हुए पाते हैं। वैजयन्ती (बनवासी) अथवा शान्ति और शासन सुपरिक के एक व्यापारी के कारला में दिये गए दान का उल्लेख मिलता है। नासिक के एक व्यापारी ने विदिशा में जाकर दान किया। भृगुकच्छ और कल्याण के लोगों ने गिरनार में और नासिक के निवासियों ने भरहुत में दान दिये।

४. कालिंग वंश

हम जिन चूके हैं कि अन्तिम मन्दराजा ने सब से पहिले कालिंग की विजय की। चन्द्रगुप्त मौर्य ने मन्द साम्राज्य को जीत लिया। कालिंग के राजा सारखेल के हाथीगुम्फा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि मन्द राजा प्राचीन इतिहास ने कालिंग में जल-मार्ग (प्रणाली) बनवाया और वह वहाँ से जिन की प्रतिमा उठा ले गया जो कालिंग का राष्ट्रदेव था। इसके बाद अशोक के तेरहवें शिलालेख में अशोक की कालिंग-विजय का उल्लेख है और यह लिखा है कि वहाँ के लोग उस समय तक अविजित थे। ऐसे लोगों को, जिन्हें अपनी स्वतंत्रता से प्रेम था और जो उसके लिए संघर्ष करने को तत्पर थे, बहुत सारकाट के बाद ही जीता जा सकता था। अशोक को इसका बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

प्रश्न यह है कि जब कालिंग मन्द साम्राज्य का अंग था और उनकी विरासत के रूप में मौर्य साम्राज्य में आ गया था तो अशोक को इसे फिर से जीतने की कैसे आवश्यकता आ पड़ी? इस प्रश्न का उत्तर इस अनुमान पर आधारित हो सकता है कि चन्द्रगुप्त के राज्य में सम्पू्ण कालिंग नहीं था वरन् इसका कुछ भाग था इसका बड़ा भाग दक्षिण की ओर था और वहाँ आदिवासी या आर्दक रहते थे, जिनका उल्लेख अशोक के तेरहवें शिलालेख में मिलता है और जिनके ऊपर शासन करना कालिंग शिलालेख के अनुसार, अशोक के लिए एक समस्या बन गया था। इस प्रकार अशोक ने कालिंग पर विजय प्राप्त की जिसमें गंजाम जिले और जौगड़ (सम्भवतः अशोक द्वारा वर्णित समापा) और धौली (सम्भवतः अशोक द्वारा वर्णित तोसली) के नगर शामिल थे और जहाँ अधिकतर आदिवासी रहते थे। यह उल्लेखनीय है कि मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्तकालीन कालिंग के एक राजा का वर्णन किया है जो स्वतंत्र था और जिसकी सैनिक शक्ति बहुत बड़ी हुई थी। सम्भवतः अशोक को इसी राजा या इसके किसी उत्तराधिकारी से युद्ध करना पड़ा था।

कालिंग के इतिहास के बाद के तथ्य सारखेल के उपरोक्त शिलालेख से प्राप्त होते हैं। इस लेख में उसके जीवन की बाक्यावस्था, युवराजकाल और उसके बाद राज्यकाल आदि इन तीन भागों में बाँटा गया है। जब वह युवराज था तो

खारबेल उसे राज्याभिषेक विषयों की अर्थात् राजाज्ञाओं के लेखन (लेख) मुद्रा-राजस्व (रुप), हिमाव-किताब (गणना), कानून (व्यवहार), प्रशासन (विधि) और अन्य विषयों (विद्या) की उच्च शिक्षा दी गई ।

खारबेल चेट (चेदि) कुल का वंशज था । उसकी राजधानी कलिङ्ग-नगरी थी । वह पक्का जैन था । अपने राज्य के दूसरे वर्ष में उसने राजा शातकर्ण के विरुद्ध पश्चिम में एक सेना भेजी और आन्ध्रदेश के राष्ट्रिक और भोजक आदि जातियों द्वारा समर्पण और मान्यता प्राप्त की । मन्द राजा जो नहर खुदवाई थी उसने उसे तनसुलिय (तोसली) मार्ग (बाट) से राजधानी तक विस्तृत कराया । यह स्मरणीय है कि अशोक के राज्यकाल में तोसली में एक कुमार शासन करता था । इसके बाद उसने उत्तर की ओर ध्यान दिया और राजमूह के निकट गोरख-गिरि पर आक्रमण करके वहाँ के लोगों को तम किया (उपपीडयति) उसकी विशाल वाहिनी ने मगधराजा दिमित (देमेत्रिओस) को परास्त किया जिसने भाग कर मथुरा (मथुरा) में शरण ली । इस प्रकार उसने भूतानियों को पराजित करने में उत्तरी राज्यों का हाथ बटाया । तत्पश्चात् उसने उत्तर की ओर अभिमान किया, जिसे उसके शिलालेख में भारतवर्ष कहा गया है । उसने उत्तरापथ के राजाओं को आतंकित किया, मगध पर आक्रमण किया । उस समय मगध का राजा बहुसर्पतिमित (बृहस्पतिमित्र) था । मगध और अंग से बहुत-सा लूट का माल कलिङ्ग पहुँचाया जिसमें कलिङ्गजिन की वह मूर्ति भी थी जिसे मन्द राजा कलिङ्ग से उठा लाया था ।

दक्षिण की ओर उसने मिषुण्ड (मछलिपटम के निकट) पर अधिकार किया जो उसके पूर्ववर्ती राजाओं की राजधानी थी और पाण्ड्य-प्रदेश को लूटा ।

यह उल्लेखनीय है, कि इस अभिलेख के बहुत से शब्द विस गये हैं और अब निश्चित रूप से पढ़ने में नहीं आते । उनके पाठ का अनुमान भाषा लगाया जाता है । कालक्रम के संबंध में इसमें जो अवतरण है उससे प्रतीत

कालक्रम होता है कि यह लेख सात्यक के राज्य के तेरहवें वर्ष में लिखा गया था जो राजा-मूरिय-काल का १६५ वाँ वर्ष था । मौर्यकाल ३२३ ई० पू० से प्रारम्भ हुआ । अतः खारबेल के राज्य का तेरहवाँ वर्ष $323 - 164 + 13 = 172$ ई० पू० होता है । इसके अतिरिक्त एक दूसरा कालक्रमारम्भक तथ्य इस शिलालेख में तीन राजाओं का उल्लेख है जिनकी पहचान शातकर्ण, पुष्यमित्र और डेमेट्रियस् द्वितीय से की जाती है, जिन्होंने ई० पू० दूसरी शती में राज्य किया ।

इस अभिलेख में वर्णित कलिङ्गनगरी वर्तमान शिशुपालगढ़ मानी जाती है ।

विदेशी आक्रमण और उनका देश में बसना

भारत में तब केंद्रीय शासन की एकता और दुइता का अभाव हो गया । फलतः यह उत्तर-पश्चिम के विदेशी आक्रमणकारियों का शिकार हो गया । इन आक्रमणों का संबंध (१) यवन, (२) शक और (३) पट्टलवों से है ।

यवनों के आक्रमण शुंग राजाओं के समय में प्रारम्भ हो चुके थे । इनका मूलस्थान बक्त या जिसे २५० ई० पू० के लगभग डायोडोरोस द्वितीय ने सीरिया के साम्राज्य से स्वतंत्र किया था । उसका उत्तरा-यवन आक्रमण बिबकारी यूथोडेमस (लगभग २१२-१९० ई० पू०) था जिसने सीरिया के सम्राट् अन्टिओकस तृतीय की कन्या से विवाह करके अपनी शक्ति को दृढ़ किया था । इसके बाद उसने भारत की ओर अपने राज्य का विस्तार किया जैसा कि उसके सिक्कों से प्रकट होता है । उसके पुत्र डिमिट्रियस प्रथम (१९०-१६० ई० पू०) ने इस विस्तार की प्रक्रिया को अधुणा रक्खा । यूक्टेडाइडोस (१७७-१५५ ई० पू०) ने उसे बक्त से बाहर निकाल दिया । जैसा कि जस्टिन ने लिखा है "जब बक्त पर यूक्टेडाइडोस का राज्य था भारत पर डिमिट्रियस शासन कर रहा था ।"

भारत के यवन राजाओं में सब से महत्वपूर्ण राजा डिमिट्रियस द्वितीय, अपोलोडोरोस द्वितीय और मिनाण्डर (मिलिन्द) थे, जैसा कि उनकी मुद्राओं

से प्रकट होता है। उनकी मुद्राएँ बारोगाजा (भडीच) पवन राजा तक के बाजारों में चालू थीं। उनका राज्य पंजाब में था और उनकी राजधानी शाकल (स्मालकोट) थी। एक यूनानी राजा ने जिसका नाम मुद्राओं पर पतलव (पेटालियोन १६०-१५५ ई० पू०) अंकित है ऐसी मुद्राएँ जारी की जिन पर एक स्त्री की आकृति मिलती है जिसे फूस ने बुद्ध की माता माया माना है।

इन पवन राजाओं के पारस्परिक संबंध का पता नहीं चलता। ये विभिन्न क्षेत्रों में राज्य करते थे।

अपोलोडोटस द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी-प्रदेश में अपने राज्य का कुछ भाग खो दिया। यूक्रेटाइडस ने इस पर अधिकार करके उसकी मुद्राओं की फिर से टंकित कराया जिनपर 'कपिसिय नगर देवता' (कपिशा का नगर देवता) लेख लिखा है।

डिमिट्रियस द्वितीय ने एक विस्तृत-प्रदेश पर राज्य किया जिसने पाता लेने (सिन्धु-डेल्टा) सौराष्ट्र और कच्छ शामिल थे। ऐसा माना जाता है कि उसने गुंग-राज्य पर आक्रमण किया। उसकी स्थाति अंग्रेज कवि चॉसर के कानों तक पहुँची जिसने 'भारतीय राजा एमेरितस महान्' का उल्लेख किया है। सौवीर के एक नगर इत्तामित्री का नामकरण उसके नाम पर हुआ है। उसकी मुद्राओं पर करोट्टी लिपि में 'महारजस अपादिहृतस (अप्रतिहृतस्य) दिनेत्रियस' लेख अंकित है।

मिनान्दर (लगभग ११५-९० ई० पू०)

उसने एक विस्तृत प्रदेश पर राज्य किया। उसकी मुद्राएँ गन्धार में पेरोपे-मिसदे (गजनी-काबुल-उपत्यका) पुष्कलावती, तर्शाशिला, उतमंजई, मदन, चरसदा, हुबारा, स्वात-थाटी आदि स्थानों पर मिली हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि १५५ ई० पू० में यूक्रेटाइडस के बाद उसने इन प्रदेशों पर राज्य किया। १३० ई० पू० के लगभग उसका देहान्त हुआ। बजोर नामक सोमावर्ती स्थान स्थान परस्टेलाइट की बुद्ध की धातु मंजूषा मिली है जिस पर "महाराज मिनन्त्र के राज्य में" यह लेख अंकित है। इस मंजूषा को वीथंकमित्र और उसके पुत्र विजयमित्र ने, जो स्वात-उपत्यका में मिनान्दर का राज्यपाल था और जिसका उल्लेख प्रथम शती ई० पू० की शक मुद्राओं पर मिलता है, प्रतिष्ठित कराया था। मुद्राओं से पता चलता है कि मिनान्दर ने कुछ अन्य उपराजाओं अथवा राज्यपालों की भी नियुक्ति की थी। ऐसे राज्यपालों में (१) स्वात और अराकोसिया का शासक अन्टीमेकस द्वितीय (२) पेशावर और उतमंजई का शासक पोलीक्सेनस और (३) उपरली काबुल उपत्यका का शासक इषान्दर

उल्लेखनीय हैं।

पालि ग्रन्थ 'मिलिन्द-पञ्चो' में मिनाम्बर को मिलिन्द कहा गया है और यह लिखा है कि बौद्ध आचार्य नागसेन के प्रभाव से उसने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था। उसका भारतीयकरण उस सीमा तक पहुँच गया था कि उसने अनेक यूनानी अनुयायियों के नामों को भारतीय रूप दे दिया था उदाहरणार्थ अग्निओकस को अनन्तकाय और डिमिट्रियस को देवमन्त्रीय कहा जाने लगा था। उसकी मुद्रा पर चक्र की आकृति और डिफेओस (धार्मिक) की उपाधि अंकित मिलती है। सिक्कों की उलटी और खरोट्टी में यह लेख खुदा है।

मुद्राओं से इस प्रदेश में राज्य करने वाले कुछ अन्य राजकुमारों का पता चलता है किन्तु उनके नामों के अतिरिक्त उनके विषय में कोई अन्य सूचना नहीं मिलती। बेंसनगर के स्तम्भ-लेख में, जिसका उल्लेख पहले धार्मिकस किया जा चुका है, यूक्टेडाईसिस के वंशज अन्तिअलिकितस सेनद्रस का उल्लेख मिलता है। उसकी मुद्राओं की उलटी तरफ हाथी की आकृति और खरोट्टी में महूरजस अयधरस अन्तिअलिकितस लेख मिलता है।

इसके बाद यहाँ ने चक्र पर अधिकार कर लिया जहाँ का अंतिम यवन राजा हमिपस (२०-३० ई०) था।

पीछे से मध्य-एशिया की जातियों के दबाव के कारण शक लोग आगे की ओर खिसकने लगे। वे साँसतान दक्षिणी अफगानिस्तान और बलूचिस्तान से होकर निचली सिन्धु-उपत्यका में आये जिसे इंडोसीथिया (शकद्वीप) कहते हैं।

शक

माओस (लगभग २० ई० पू० २२ ई०)

शक-अभियान का नेता माओस था जिसकी मुद्राओं से प्रकट होता है कि उसने गन्धार और पश्चिमी-पंजाब पर (जिसमें तक्षशिला भी शामिल था) अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने राजाधिराज की उपाधि ग्रहण की जैसा कि उसकी मुद्राओं से प्रतीत होता है। वह लक सम्राट् मिथ्रिडेटिस द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) की मृत्यु पर, जिसका प्रभुत्व उसे पहिले मान्य था, उसने मथुरा तक का प्रदेश ७२ बिक्रम संवत् = १५ ई० से पहिले जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस समय काबूलघाटी में यवन राजा यूक्टेडाईसिस के वंशजों और पंजाब में यवन राजा यूक्टीडेटिस के वंशजों का शासन था। इन दोनों वंशों में संघर्ष चरु रहा था। दक्षिण सिंध के मार्ग से शकों के आ जाने से इन पुडरत शक्तियों में एक व्यवधान पड़ गया। माओस ने इन दोनों यवन वंशों की मुद्राओं का अनुकरण किया है।

एजीस प्रथम के बाद उसका पुत्र एज़िलाइसेस (अयलिश) २८-३९ ई० के बीच में गद्दी पर बैठा और उसके बाद उसका पुत्र एजीस द्वितीय लगभग ३९-७९ ई० के बीच में राजा बना। (वही 'एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी' में ३१० डी० सी० सरकार द्वारा उल्लिखित कालक्रम का अनुसरण किया गया है।)

इन विदेशी राजाओं का पता केवल उनकी मुद्राओं से चलता है और वे हमारे लिए सामनाथ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें वैराज्य की प्रथा थी। उन्होंने स्वयमेव भी मुद्राएँ चलाई और अपने संबंधियों और अपने उपराजाओं के साथ मिलकर भी जारी कीं। इस प्रकार हमें उनके संबंधियों तथा उपराजाओं के नामों का पता चलता है। उदाहरण के लिए एजीस प्रथम ने अपनी मुद्राओं पर अपने साथ अपने पिता स्पलिरिसेस का नाम भी अंकित कराया। कुछ मुद्राओं पर उसके नाम के साथ-साथ उसके पुत्र स्पलादय और उसके सेनापति (स्त्रातेगांस) अस्प्यवर्मा के नाम भी अंकित मिलते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे इस अस्प्यवर्मा का नाम पहलव राजा गोन्दोफर्नेस् के नाम के साथ भी संबंधित पाया जाता है।

उसने पूर्वी ईरान अथवा शानियाना में राज्य करना आरम्भ किया और शीघ्र ही अपनी मुद्राओं पर महाराजाधिराज की सम्राट्-गद-सूचक उपाधि अंकित करवाई।

इसके बाद उसके अपने संबंधियों, उदाहरणार्थ अपने दो बोनोनीस (बनान) भाइयों स्पलहोर और स्पलिरिसेस (लगभग १८-१ ई० पू०) के साथ मिलकर मुद्राएँ जारी कीं। स्पलिरिसेस उसके बाद गद्दी पर बैठा और उसने उसकी मुद्राओं को पुनः टंकित कराया। भाइयों ने उसे सिंहासन से उतार दिया।

उसने पश्चिमन सम्राट् आर्थोमीज के राज्यकाल में अराकोजिया के राज्यपाल का कार्य आरम्भ किया। किन्तु बाद में उसने पश्चिमन साम्राज्य के कुछ भाग तथा काबुल-घाटी और गन्वार को जीतकर अपने-आपको गोन्दोफर्नेस् स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया। मुद्राओं पर उसे महारज-
(लगभग राजतिरज-अतरस देवव्रतस गुदवहरस (महाराज राजतिरज-
२०-५० ई०) जातु देवव्रतस्य गुण्डुपर्णस्य) कहा गया है। इन मुद्राओं पर उसे छोड़े पर चढ़ा हुआ दिखाया गया है और यूनानी लिपि में उसका नाम 'उन्दोफर्नेस' लिखा है। उसने अपने संबंधियों, अपने भाई गुद और अपने सेनापति अस्प्यवर्मा के साथ मिलकर भी मुद्राएँ जारी कीं।

उसके बाद उसके बंधु के लोगों ने केवल २० वर्ष तक राज्य किया। कुषाण नामक एक नवागन्तुक जाति ने उन्हें निकाल बाहर किया।

एक अभिलेख में 'गुदवहर' (गोन्दोफर्नेस्) के राज्यकाल के बीसवें वर्ष को विक्रम संवत् के १०३ वें वर्ष के तुल्य बताया गया है, जो १०३ + ५७ + २६

= २० ई० के बराबर होता है। चूंकि इस भारतीय संवत् के संबंध में वैशाख मास का उल्लेख है, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ विक्रम संवत् अभिप्रेत है।

पहले लोगों की प्रथा के विपरीत शकों ने देश के वान्तरिक भागों में प्रवेश करके तक्षशिला, मथुरा, नासिक और उज्जयिनी में अपने क्षत्रप-वंश प्रतिष्ठित किए और पूर्णतः भारतीय हो गए। उनमें से कुछ बौद्ध हो शक-क्षत्रप गये, कुछ हिन्दू। मुद्राओं और अभिलेखों से वहाँ के निम्न-लिखित राजाओं का पता चलता है—

(१) क्षत्रप लिखक कुसुलक जो राजा मोग (मार्जोस) के राज्यकाल में तक्षशिला के निकट युद्ध का क्षत्रप था, (२) उसका पुत्र पतिक तक्षशिला का क्षत्रप हुआ। यह एक पक्का बौद्ध था और जिसने वहाँ एक संघाराम बनवाकर उसमें बुद्ध की धातु-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी और रोहिणीनित्त उपाध्याय को उसका प्रबन्धक (नवर्कामिक) नियुक्त किया। अपने दान के कारण उसने महादानपति का पद प्राप्त किया। अन्य क्षत्रप, जैसे जिहुनिया का क्षत्रप अस्पयवर्मा, हमारे लिए केवल नाममात्र हैं।

मुद्राओं तथा सिह-शीर्ष पर उत्कीर्ण लेखों से मथुरा के शक इतिहास का पता चलता है। इनमें वहाँ के महाक्षत्रप राजुल- (= राजुल = शिकों का रजुवुल) और उसके पुत्र क्षत्रप शुडिस (जिसे शुडिस, शोडास और शोण्डास भी कहते थे) का पता चलता है। शुडिस बाद में महाक्षत्रप बन गया था। उसकी मुद्राओं पर उसके पुत्र क्षत्रप तोरण (या भरण) दास का नाम तथा ह्यान, ह्यामस, शिवघोष, शिवदत्त आदि उसके अन्य क्षत्रपों के नाम भी मिलते हैं।

उक्त शिलालेखों से कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। राजुल की अवमहिषी (पटरानी) अयसि कम्बोज देश की रहने वाली थी और सम्राट् मोग के पुत्र युवराज खरओस्ट की पुत्री थी। वह बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गई और उसने मथुरा में एक बौद्ध संघाराम, एक स्तूप और एक शाक्यभूमि के अवशेषों का प्रतिष्ठास्थान (मन्दिर) बनवाए। इन भवनों के निर्माण के लिए उसे उसके पुत्र शुडिस ने 'महाक्षत्रप कुसल पतिक और समस्त शकस्थान के पुण्य' के लिए भूमि प्रदान की। इससे अपनी जन्मभूमि तथा अपने नेता के प्रति उसकी भक्ति प्रकट होती है। उसने स्वयं भी एक गृहा-विहार का दान किया और वहाँ महासाधिक तप की शिक्षा देने के लिए नगर (बलालाबाद) के भिक्षु बुद्धदेव को समर्पित किया। अपनी परांपकार भावना के फलस्वरूप उसे गंधार के रूप से महादानपति की उपाधि प्राप्त हुई।

अभिलेखों से वहाँ के शक-राजा भूमक और नहयान पर प्रकाश पड़ता है जो सम्भवतः पिता-पुत्र थे और अपने आपको 'अहरात-क्षत्रप' कहते थे। बाद में नहयान महाक्षत्रप बन गया। शक संवत् ४१-४६ = ११९-१२४ ई० के बीच में उसने अपने शिलालेख खुदवाए थे।

पश्चिमी भारत

नहयान का जामाता उपवदात एक योग्य व्यक्ति था। उसने उसे अपने प्रशासन में साथ रखा। उपवदात दीनिक का पुत्र था और नहयान की पुत्री ददाभिजा के साथ व्याहृत था। वह उसके उपराजा के रूप में शासन करता था और दक्षिण में पुता (नामाल) से उत्तर में पुण्डर, कापूर (बड़ोदा), प्रभास (दक्षिणी काठियावाड़), भृगुकच्छ, गोवर्धन (नामिक) दणपुर (पश्चिमी मालवा) और शूर्यरिक्त तक फैले हुए उसके विस्तृत राज्य के कई प्रदेशों का नियंत्रण करता था।

नहयान के निधन पर उसके वंश का राज्य समाप्त हो गया। पैरीप्लस में उसे नम्बोलेस और उसकी राजधानी को मिन्नगर = जीर्णनगर (जूनागढ़, गिरनार) कहा गया है।

चष्टन (७८-११० ई०) ने वहाँ एक शक वंश स्थापित किया और शक-संवत् (शकनृपकाल) का प्रवर्तन किया। चष्टन को एक पामाण-प्रतिमा जिसमें उसे शक वेशभूषा में छुटनों तक का लम्बा कोट पहने खड़ा दिखाया गया है मथुरा से प्राप्त हुई है और मथुरा-संग्रहालय में रखी है। प्रतिमा के दोनों ओर नौकीली टोपी पहिने शक बुद्धसार घोड़ा अंकित किए गये हैं। प्रतिमा पर चष्टन शब्द खुदा है जो चष्टन का रूपान्तर माना जाता है।

उज्जयिनी

चष्टन के वंश का सबसे महत्वपूर्ण राजा उसका पौत्र रुद्रवामा था जिसके शक संवत् ७२ = १५० ई० के गिरनार शिलालेख में उसकी विजयों और प्रशासन का सूक्ष्म वर्णन मिलता है। उसने उत्तर में गोघेरों को पराजित किया और दक्षिणापथपति गौतमीपुत्र शातकनि को हराया। शिलालेख में निम्नलिखित प्रदेशों पर उसकी

रुद्रवामा

विजय का उल्लेख है: (१) सिन्धु (निचली सिन्धु-उपत्यका का पश्चिमी भाग), (२) सीवीर (निचली सिन्धु-उपत्यका का पूर्वी भाग), (३) कच्छ, (४) आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), (५) सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़) जिसकी राजधानी गिरनार थी, (६) मरु (मारवाड़), (७) अपरान्त (उत्तरी कोंकण) जिसकी राजधानी शूर्यरिक्त थी, (८) आकर (पूर्वी मालवा) जिसकी राजधानी विदिशा थी, (९) अवन्ती (पश्चिमी मालवा) जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है उसने पुलुमावि के साथ अपनी पुत्री का विवाह करके आन्ध्रों के साथ संधि की।

उसने पहलव सुविगात को सुराष्ट्र का राज्यपाल नियुक्त किया। सुराष्ट्र में सदांत-तटाक नामक प्रसिद्ध जलाशय के जोंछोंझार की आवश्यकता पड़ गई जिसके लिए राजा ने लोगों से बेगार (विष्टि) और चन्दा (प्रणय) या कर लिए बिना अपनी जेब से (स्वस्मात् कोशात्) काफी धन खर्च किया।

उसकी मंत्रि-परिषद् में (१) मंत्रि-सचिव (राजनीति की चर्चा करने वाले) और (२) कर्म-सचिव (प्रशासन के अधिकारी) नामक कर्मचारी होते थे।

उसने शिलालेखों में संस्कृत भाषा का और मुद्राओं पर प्राकृत-भाषा का प्रयोग किया।

उसके बाद २०० वर्ष तक के उसके वंश के इतिहास का कुछ पता नहीं चलता।

इस वंश का अन्तिम क्षत्रप स्रासिह तृतीय था जिसका मुद्राएँ मालवा और राजस्थान में २७३ शक संवत् = ३५१ ई० तक और विन्ध्य से दक्षिण में ३०१ शक संवत् = ३७९ ई० तक मिलती है। ऐसा माना जाता है कि यही वह शक राजा था जिसे गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मार कर शक राज्य का अन्त किया था। किन्तु श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने हाल ही में इस मत का खण्डन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शक राज्य को समाप्त करने का श्रेय बलमी के मौरक वंशी राजाओं को है। (भारतीय विद्या १९५८ भाग १८ पृ० ८३)

हम ऊपर देख चुके हैं कि १७५-१६० ई० पृ० के लगभग मध्य-एशिया की जातियों में एक संचरण की परम्परा चल पड़ी। एक जाति ने दूसरी को आगे डेलना

कुषाण शुरु कर दिया। उनमें से कुछ भारत में आकर बस गईं।

हपुङ्ग-नू (हूण ?) जाति ने पश्चिमी चीन से यू-ची लोगों को बाहर धकेल दिया। इन हटते हुए यू-ची लोगों ने वंश-उपत्यका और बक्व में बसे वू-सून और शक लोगों को वहाँ से खदेड़ दिया। पीछे की जातियों के दबाव के कारण यू-ची और आगे बढ़े और उन्होंने शकों की भूमि पर अधिकार करके उन्हें भारत में आने पर विवश कर दिया। बक्व और सुब्ब की नवाधिकृत भूमि पर उनके पाँच दल बस गये जिनमें से एक का नाम कुषाण था और जिसके नेता (यबगू = यवोग) ने सब दलों की एकता के सूत्र में बाँध दिया था।

अपनी जाति की महत्ता के इस निर्माता का नाम कदचित्सस प्रथम था। उसने हितुकुश के पार अपने राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया, दक्षिणी अफ-कूज़ल कड़फाइसेस गानिस्तान, काबुल, कन्दहार, कि-पिन और पार्थिया के प्रथम (लगभग एक भाग को अपने राज्य में मिला लिया और अन्त में बचन, १५-६५ ई०) शक और पहलव राज्यों को आत्मसात कर लिया।

उसके इतिहास के प्रधान साधन मुद्राएँ हैं। अपनी प्रारम्भिक मुद्राओं पर सीधी तरफ यूनानी राजा हर्मियस का नाम अंकित है और उलटी तरफ उसका अपना नाम और उपाधि कुशनस-महस कुजुल-कफस-धूम-ठितस (कुछ मुद्राओं पर सचधम-ठितस) उलकीयें हैं। इस लेख से पता चलता है कि वह अपनी जाति का नेता (युवक) था और सत्यधर्म (धर्म) में उसकी निष्ठा थी। उसकी बाद की मुद्राओं पर उसका नाम और उपाधि इस प्रकार मिलते हैं : 'महारजस-महत्स कुषाण कुयुल कफस अथवा महारजस रजतिरजस कुयुल कफस।' इस प्रकार मुद्राओं से उसके सम्राट् पद का आभास होता है और यह पता चलता है कि उसने सत्यधर्म (वैदिक धर्म) को अंगीकार किया था। ६० ई० में ८० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मुद्रा पर राजा के सिर की जो आकृति है वह रोमन सम्राट् ऑगस्टस (२७ ई०-५०-१४ ई०), ताइबेरियस (१४-३७ ई०) अथवा क्लाडियस (४१-५४ ई०) की मुद्राओं पर अंकित आकृति से मिलती है।

विम कडफाइसस द्वितीय (लगभग ६५-७५ ई०)

अगला महत्त्वपूर्ण कुषाण राजा कडफाइसस द्वितीय था। मुद्राओं से पता चलता है कि भारत के विस्तृत प्रदेश पर उसका राज्य था। मुद्राओं पर अंकित लेखों में उसे महाराजा, राजाधिराज, सर्वलोकेश्वर और महीश्वर (पृथ्वी का स्वामी) कहा गया है और उसका नाम विम कडिदा लिखा है। उसकी कुछ मुद्राओं पर द्विभुज, त्रिशूलधारी, व्याघ्र-चर्मप्राही, नन्दी-अभिमुख भगवान् शिव की आकृति अंकित है। इनसे प्रकट होता है कि उसने हिन्दुधर्म ग्रहण करके शैवमत स्वीकार किया था। महीश्वर शब्द महेश्वर का रूपान्तर हो सकता है जिससे शिवभक्ति की कल्पना होती है।

कुछ ताँबे की मुद्राओं पर यह लेख मिलता है : महारजस रजरजस-देवपुत्रस कुयुल करकफसस (कपस) इस लेख से कुयुल करकफस राजा के सम्राट् पद और देवपुत्र उपाधि का पता चलता है।

मथुरा जिले में विम कडफाइसेस प्रथम की एक बृहदाकार प्रतिमा मिली है। उसे सिंहासन पर बैठा लम्बी आस्तीन का चाँगा और फीतों से बंधे ऊँचे भारी बूट जूते पहने और पादपीठ पर पैर रखे दिखाया गया है। इस प्रतिमा पर निम्नलिखित लेख मिलता है : "(१) महाराज राजातिराजो देवपुत्रो, (२) कुषाणपुत्रो शाहि विमा तलमस्य अर्थात् सम्राट् (शाही) विम की (प्रतिमा) जिसके पास तेज पाँडे (सशस्त्र) है, जो कुषाण-वंशीय है, जो देवता का पुत्र है और जो राजाओं का राजा है।"

इस लेख में देवकुल (मन्दिर) और जन-कल्याण के लिए आराम (सराव),

उदयान (कुर्वा) और पुष्करिणी (तालाब) बनवाने का उल्लेख है।

सन् १२२-६४ ई० के एक अभिलेख में एक महान् कुषाण (गुप्त) सम्राट् का उल्लेख है। उसकी ठीक से पहचान करना कठिन है। उसे या तो कदफाइट्स द्वितीय माना जा सकता है, जिसने अपने नाम का उल्लेख कराना उचित नहीं समझा या उसका उपराजा समझा जा सकता है।

शिलालेखों में कदफाइट्स द्वितीय के बाद की उत्तराधिकार-तालिका इस प्रकार दी है: (१) कनिष्क प्रथम (१-२३), (२) वासिष्क (२४-२८), (३) उसके उत्तरा- ह्विष्क (२८-४०), (४) कनिष्क द्वितीय वाशेष्क पुत्र और पिकारी (५) वसुदेव (७४-९८)।

यह भारतीय इतिहास के महत्तम राजाओं में गिना जाता है। उसके साम्राज्य में भारत के बाहर का एक विस्तृत प्रदेश भी शामिल था। उसने चीनियों से खोतान, यारकन्द और काशगर जीत लिए थे। भारत के भीतर उत्तर-कनिष्क प्रथम पश्चिम में कापिला, गन्धार, कश्मीर में सिन्ध और मालवा से होकर पाटलिपुत्र तक उसका राज्य था। उत्तर-पश्चिम में लल और लाइक और पूर्वी भारत में महाभारत खरपल्लान और अत्रप वत्स्कर उसके राज्यपाल थे, जैसा कि उसके शिलालेखों से प्रकट होता है। चूँकि उसकी मुद्राओं पर टिटस (७९-८१ ई०), ट्राजन (९८-११७ ई०) की रोमन मुद्राओं के अनुकरण के चिह्न मिलते हैं, इसलिए एलन ने अनुमान किया है कि उसका राज्य ७८ ई० के पश्चात् आरम्भ हुआ होगा।

उसने कश्मीर में कनिष्कपुर नामक नगर का निर्माण कराया, जो आजकल बारामुला के निकट कनिसपुर नामक स्थान है, और अपनी राजधानी पेशावर में एक स्तूप और विहार बनवाया जिसमें बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को प्रतिष्ठित कराया। खुदाई से पता चला है कि इसमें बुद्ध, अद्या, इन्द्र और कनिष्क की मूर्तियाँ थीं।

परम्परा के अनुसार कनिष्क ने कश्मीर के कुण्डलवन विहार (अथवा जल-नगर?) में आचार्य पार्श्व की अध्यक्षता में बौद्ध धर्म के विवादग्रस्त सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन किया। उसमें उपस्थित विद्वानों ने उपलब्ध बौद्ध साहित्य की गवेषणा की और उस पर व्याख्याएँ लिखीं। वसुचन्धु के जीवनचरित्रकार परमार्थ ने लिखा है कि इस संगीति में अश्वघोष ने भाग लिया था किन्तु उसने कनिष्क का नामोल्लेख नहीं किया है।

कनिष्क के विस्तृत राज्य की विविध जातियों में जित देवताओं की उपासना प्रचलित थी, उन सब की आकृतियाँ उसकी मुद्राओं पर अंकित हैं। इनमें

(१) ब्राह्मण धर्म के देवता-महामेन, स्कन्द-कुमार-विशाल
मुद्राएँ (वीजागो), उमा (ओम्पो), वरुण (होरोन), और भवेष्ट



कनिष्क की प्रस्तर-प्रतिमा

(ओण्डो) (२) बौद्ध देवता-बुद्ध (बौद्ध), 'सक-मन-बोउद' (शाक्यमुनि बुद्ध) और ओण्डो बोयछकम (अद्वैत-बुद्ध शाक्य-मुनि), (३) ईरानी देवता-मिथ्रो (मिथ्रो) और (४) यूनानी देवता-हेरि-ओस, सेलेन, हिरेक्लीस सामिल हैं।

मथुरा जिले में कनिष्क की एक प्रतिमा मिली है। इसमें उसे सड़ा हुआ दिखाया गया है। उसकी दाहिनी भुजा गंदा अथवा राजदण्ड पर टिकी है और बाएँ हाथ

कनिष्क की प्रतिमा में उसने तलवार की मुँठ पकड़ रखी है। राजा को धुटने तक का चोगा और पीतों से बँधी भारी बूट-जूते पहने दिखाया गया है। ब्राह्मी लिपि में इस महाराजा राजातिराज देवपुत्रो कानिष्को लेख अंकित है।

वासिष्क (लगभग १०२-१०६ ई०)

दो अभिलेखों से उसके विषय में पता चलता है। इनमें से पहिला २४ = १०२ ई० का है। यह एक अश्वमेध यज्ञ के यूप पर खुदा है। उसमें लिखा है कि उस समय वासिष्क का राज्य था। दूसरा २८ = १०६ ई० का है और साँची के धर्मदेव विहार में मिला है। इसमें तात्कालिक राजा का नामोल्लेख इस प्रकार हुआ है महाराज राजातिराज देवपुत्र-शाहि-वासिष्क।

हुविष्क (लगभग १०६-१३८ ई०)

ऐसा लगता है कि अपने पिता के उपराजा के रूप में उसने शासन प्रारम्भ किया किन्तु ४१ = ११९ ई० के बाद उसने राजा बन कर शिलालेख और मुद्राएँ जारी कीं। उसकी मुद्राओं पर बहुत-से देवताओं, विशेषतः ब्राह्मण देवताओं—ओण्डो (भवंश) मिथ्रो, होरोन (वरुण) ओम्मो (उमा) स्कन्दो-कौमारो-वि-जानो (विशाल) और गणेश—की आकृतियाँ पाई जाती हैं। इन मुद्राओं पर उसकी अर्धमूर्ति मिलती है। ऐसा लगता है कि उसके राज्य के कुछ भागों, जैसे; सिन्धु-सौबोर, सुराष्ट्र पर अथवा रुद्रवामा का अधिकार हो गया था।

उसने मथुरा में एक मन्दिर और बौद्ध विहार बनवाया और कश्मीर में हुविष्क-पुर (वर्तमान हुष्कुर) नामक नगर बसाया।

४१वें वर्ष = ११९ ई० के एक शिलालेख में कैसर-महाराज-राजातिराज-देवपुत्र-वासिष्क के पुत्र कनिष्क का उल्लेख है। उसे कनिष्क द्वितीय माना जा सकता है। यह हुविष्क का उपराजा माना रहा। उसने अपनी मुद्राएँ जारी नहीं कीं।

वासुदेव प्रथम (लगभग १५२-१७६ ई०)

उसके शिलालेखों में ७४-९९ वर्षों का उल्लेख है और उसकी कुछ मुद्राओं पर शिव, नन्दी और अरदोशो (अवेस्ता में वर्णित धन-सम्पत्ति की देवी) की आकृतियाँ मिलती हैं।

वासुदेव के बाद कुषाण साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। इन शासकों के नाम उनकी मुद्राओं पर मिलते हैं। इनसे कनिष्क तृतीय (२) वसु (३) पुम्बा-बाद के कुषाण- टीस (३६० ई०) के नामों का पता चलता है। पुम्बा-टीस राजा खियोन था। ये नाम मुद्राओं पर ऊपर से नीचे की ओर लिखे हैं। उस समय तक सोने की मुद्राएँ चाल थीं।

अफ़ग़ानिस्तान और सिन्धु-उपत्यका पर सासानो राजाओं (८०-३६० ई०) का अधिकार हो गया और ये कुषाण राजा उनके करद हो गये। ३४० तक घाक, शीलद और गडहर आदि छोटे-छोटे शक राजा पश्चिमी पंजाब में राज्य करते रहे। ३४० ई० में किदार कुषाणों ने उनका अन्त कर दिया और अपना राज्य स्थापित कर दिया। किदार के राज्य में कश्मीर, गन्धार, पश्चिमी और मध्य-पंजाब का विस्तृत प्रदेश शामिल था। उसके बाद उसका पुत्र पीरो गद्दी पर बैठा। गुप्त-सम्राटों और सासानो सम्राट् शाहपुर तृतीय के आघातों और आक्रमणों से उसके राज्य का अन्त हो गया।

धर्म — कुषाण सम्राटों ने धार्मिक उदारता का परिचय दिया। उन्होंने अपनी मुद्राओं पर विभिन्न धर्मों के देवताओं की मूर्तियाँ अंकित करने की अनुमति दी, कुषाणकालीन यद्यपि उनका अपना-अपना वैयक्तिक धर्म अलग था। विम भारत शैव था, कनिष्क प्रथम बौद्ध था, हुषिष्क भी बौद्ध था, वासुदेव शैव या शारद वैष्णव था।

कनिष्क प्रथम ने बौद्ध संगीति का आयोजन करके बौद्ध धर्म की बड़ी सेवा की। इस संगीति में बौद्ध ग्रन्थों का पाठ निर्धारित हुआ। बौद्ध धर्म का एक नया रूप महायान आविर्भूत हुआ जो दक्षिणी बौद्ध धर्म के हीनयान से भिन्न था।

महायान ने कला को एक नूतन दिशा प्रदान की। बुद्ध की मूर्तियाँ, उसके जीवन की घटनाओं का अंकन और बौधिसत्त्वों की आकृतियाँ कलात्मक अभिव्यक्ति का उपादान और माध्यम बन गईं। पहिले हीनयान ने

कला

इन मूर्तियों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाया था। यूनानी कला का भी इस कलात्मक विकास पर काफी प्रभाव पड़ा और फलतः गन्धार की कला का प्रादुर्भाव हुआ। मथुरा के कारीगरों पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने लोगों की माँग को पूरा करने के लिए बुद्ध और बौधिसत्त्वों की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ बनानी शुरू कर दीं। ये मूर्तियाँ सारनाथ, आबस्तो, साँची और राजगृह आदि सुदूर स्थानों में प्रतिष्ठित की गईं। प्राकृतोप-कालीन परलम्, बेसनगर और दोदारगंज की विशाल यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाओं की परम्पराएँ इन बुद्ध-बौधिसत्त्वों की मूर्तियों में विलीन हो गईं। किन्तु यह कला विशुद्ध

बौद्ध नहीं थी। मथुरा जैन और ब्राह्मण कला का केन्द्र था। इसने अन्य धर्मों के प्रतीकों को कलात्मक रूप प्रदान कर उनकी यथेष्ट सेवा की।

कृपाण काल में संस्कृत को भी प्रोत्साहन मिला। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अवधोष, पाश्वं और नागादेन आदि ने संस्कृत में ग्रन्थ-रचना की। उत्तरी बौद्ध-धर्म के शास्त्रों की माध्यम संस्कृत हो गई थी।

शामन की इकाइयाँ निम्नलिखित थी (१) आहार, (२) जनपद, (३) देश अथवा विषय और (४) राष्ट्र (समस्त राज्य) राज्यपालों को क्षत्रप और महान-प्रशासन क्षत्रप कहते थे।

कृपाण सम्राटों के बहुत-से अभिलेखों में उनके धार्मिक और अनुदानों का उल्लेख है। बौद्ध धार्मिक दानों में बहुधा स्तूप और विहार प्रधान हैं जिनमें बुद्ध लोक-कल्याण-के अवशेष प्रतिष्ठित किए जाते थे। उदाहरण के लिए स्वात कार्य और की घाटी में पठानों के एक गांव में यूनानी थियोडोरा के राज्य-अनुदान काल का एक धातु-कलश मिला है जिसमें बुद्ध के अवशेष संचित हैं। एजोज प्रथम के काल में एक व्यापारी की पुत्री ने जो बौद्ध उपासिका थी अपने घर में एक स्तूप बनाया और उसमें बुद्ध के अवशेष प्रतिष्ठित किए। उसी प्रदेश में एक अन्य अभिलेख मिला है जिससे बात होता है कि उरधा (हजारा जिले) के एक बौद्ध निवासी ने बुद्ध के अवशेषों के लिए एक चैत्य बनवाया, तथाशिला में एक विहार निर्माण कराया और अपने घर में बोधिसत्व का एक मंदिर स्थापित किया।

कमिक प्रथम के काल के कई शिलालेखों में बोधिसत्वों की प्रतिमाओं और उनके दण्ड अथवा छत्रमण्डि के दान के उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ ८१ ई० के भिक्षु बल के सारनाथ के शिलालेख में अथवा हुविष्क के मथुरा के शिलालेख में यह लिखा है कि भिक्षु बल की एक अन्तेवासिनी ने मधुवन (मथुरा) में बोधिसत्व की एक प्रतिमा स्थापित कराई।

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट हुविष्क ने स्वयं देवपुत्र विहार नामक एक बौद्ध विहार बनवाया और उसमें भगवान् शाक्यमुनि की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई। यह तथ्य उसके १२९ ई० के शिलालेख में मिलता है। उसी समय के एक अन्य शिलालेख में यह लिखा है कि अफगानिस्तान के एक गांव में बुद्ध के अवशेष एक स्तूप में प्रतिष्ठित किए गये जिसके साथ कीट-पतंग और वनस्पति (शष्पादि) आदि सब जीवधारियों के कल्याण और मंगल के लिए एक विहार भी बनवाया गया। इससे अद्वितीय विश्ववनीन उदारता का भाव प्रकट होता है।

इन दानों के प्राप्ति स्थानों से पता चलता है कि कृपाण साम्राज्य के उत्खा-धान में बौद्धधर्म भारत की सीमाओं को लांघ कर अफगानिस्तान तक फैल गया था।

जहाँ तक लौकिक बातों का प्रश्न है हम ई० पू० तीसरी शती के सोहगौरा (गोरखपुर) के ताम्रपट्ट लेखों का उल्लेख कर सकते हैं जिनमें दुर्भिक्ष से बचाव के लिए अन्न-संग्रह करने की सल्लियों (कोष्ठगारों) के निर्माण की चर्चा है ।

साहिं हुविष्क के एक मनोरञ्जक शिलालेख में जिसकी तिथि १०६ ई० है और जो मथुरा से प्राप्त हुआ है यह लिखा है कि वहाँ एक मुष्पसाला का निर्माण कराया गया, अध्यायनिवी से जहाँ प्रतिदिन भूखों-नंगों को निःशुल्क भोजन दिया जाता था । इस भोजन में (१) सक्तु (सत्तू), (२) लवण (नमक), (३) शुक्ल (आमले का रस) और (४) हारति-कलापक (हरी सज्जियाँ) होती थीं । इस निधि का प्रबन्ध एक स्थानीय क्षेत्री के हाथ में था जो ट्रस्ट का काम करती थी ।

धौसुण्डी (चित्तोडगढ़) से ई० पू० की प्रथम शती के एक ब्राह्मण शिलालेख में संकराण और वामुदेव नामक देवताओं की उपासना के लिए बनवाए गये एक मन्दिर का उल्लेख है ।

मोरा (मथुरा) से प्राप्त ई० पू० की लगभग दूसरी शती के शोडास के राज्य काल के एक शिलालेख में एक विशाल भागवत मन्दिर का चित्र है जिसमें पाँच वृष्णिवीरों की प्रतिमाएँ स्थापित की गई थी । वायु-पुराण में वामुदेव, प्रबुम्न, साम्ब, अनिरुद्ध और शेष को पाँच वृष्णिवीर बताया गया है ।

ई० पू० की प्रथम शती के धनदेव के अयोध्या के शिलालेख में मृत पितरों के केतन अथवा समाधियों का चित्र है । पमोसा के अभिलेखों में भिक्षुओं और साधुओं के रहने के लिए गुहाओं (लेन = लयण = गुहावास) के बनवाने की चर्चा है ।

कनिष्क प्रथम के काल के एक शिलालेख में एक हर्म्य का उल्लेख है जहाँ शिवदेवता की मूर्ति प्रतिष्ठित थी और उसकी उपासना की जाती थी ।

परिशिष्ट

यवन राजाओं का काल-क्रम

डियोडोटस प्रथम (२५६-२४८ ई० पू०)

डियोडोटस द्वितीय (२४८-२३५ ई० पू०)

अन्टिमेकस प्रथम (१९०-१८०)

दिमिट्रियस द्वितीय (१८०-१६५)

मिनाण्डर (१५५-१३०)

अन्टिमेकस द्वितीय (१३०-१२५)

एगेषोक्लिया

स्ट्रैबो प्रथम (१३०-९५)

(स्ट्रैबो प्रथम के साथ मिलकर राज्य किया)

अपोलोडोटस (११५-९५)

यूक्रेटाइडिस प्रथम (१७१-१५५)

यूयोडेमस प्रथम (२३५-२०० ई० पू०)

हेलियोक्लीस प्रथम (१५५-१४०)

दिमेट्रियस प्रथम (२००-१८५)

हेलियोक्लीस द्वितीय (१२०-११५)

पन्टालियोन

(१८५-१७५)

एगेषोक्लीस

(१८०-१६५)

अन्टियालमिडस (११५-१००)

एगेषोक्लिया

हर्मियस (७५-५५)

(यह कालक्रम तालिका डा० अबध किशोर नारायण की पुस्तक 'दि इण्डो थीक्स' से ली गई है)

गुप्त साम्राज्य

कृपाण साम्राज्य के अन्तर उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई और यह बहुत से छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इसकी एकता को एक अन्य सावंभौम व्यक्ति ने फिर से स्थापित किया। यह व्यक्ति गुप्त साम्राज्य की। ये छोटे राज्य, जिनमें उत्तरी भारत बँट गया था, गणतंत्र और राजतंत्र दोनों रूपों में विद्यमान थे। इनका इतिहास केवल स्थानीय महत्व रखता है।

निम्नलिखित गणतंत्रों का उल्लेख प्राप्य है: (१) आर्जुनायन—ये उस प्रदेश में रहते थे जिसे आजकल भरतपुर और अलवर कहते हैं। वे इतने सम्पन्न थे कि उन्होंने अपनी निजी मुद्राएँ जारी की थीं, जिन पर 'आर्जुना-यनानां जयः' लेख उत्कीर्ण है। ये मुद्राएँ ई० पू० प्रथम शती की हैं। अन्त में ये लोग गुप्त साम्राज्य में विलीन हो गये।

(२) मालव—सिकन्दर के आक्रमण के समय ये लोग पंजाब में विद्यमान थे। मालवों से सिकन्दर का संघर्ष भी हुआ था। पंजाब में यवन राज्य के प्रसार के फलस्वरूप वे राजपुताने में दब गये। उन्होंने विक्रम-संवत् का प्रयोग किया। गुप्त शिलालेखों में उन्हें मालव-गण कहा गया है। ईसा की तीसरी शती में वे अपनी सत्ता की चरम सीमा पर पहुँचे। मौखरी महाराज बल भी उनके अधीन था। अन्त में वे गुप्त साम्राज्य में अन्तर्भुक्त हो गये।

(३) यौधेय—इनका इतिहास लम्बा है। पाणिनि को इनका पता था। ई० पू० प्रथम शती से उन्होंने अपनी मुद्राएँ जारी करनी शुरू कीं जिन पर बहुधाशका यौधेयान लेख मिलता है। उनकी मुद्राओं के साथे रोहतक जिले में पाये गये हैं। ई० चौथी शती के उनकी ताँबे की मुद्राएँ कृपाण मुद्राओं के समूह की हैं। उन पर यौधेयगणस्य जयः लेख उपलब्ध है।

(४) लिच्छवी—उनका इतिहास पहिले लिखा जा चुका है।

(५) शिवि—पहिले वे पंजाब में रहते थे। वहाँ उन्होंने सिकन्दर का मुकाबला किया था। यूनानियों ने उन्हें सिधोद नाम से अभिहित किया है। बाद में वे चित्तौड़ के निकट राजस्थान में बस गये। उनकी राजधानी माध्यमिका थी। उनकी कुछ मुद्राओं पर 'मज्झमिकाय शिविवनपदस' लेख मिलता है।

(६) कुणिन्द—इनके प्रसिद्ध राजा अमोघभूति का नाम मुद्राओं से ज्ञात होता है। कुणिन्द मुद्राएँ कृपाण-नमूनों की हैं। उन पर शिव की आकृति अंकित है। ई० पू० प्रथम शती में उनके राज्य का सूत्रपात हुआ।

(७) कुलूत—इन्होंने कुणिन्दों को परास्त किया। उनकी मुद्राओं से वीर-यशस और भद्रयशस नामक दो राजाओं का पता चलता है। गुप्त राजाओं ने उन्हें पराजित किया।

(८) औदुम्बर—ये पंजाब के कांगड़ा, गुरदासपुर और होशियारपुर जिलों में रहते थे। इनकी मुद्राओं पर 'भगवतो महादेवस्य राजराजस्य' लेख मिलता है। इनमें से कुछ मुद्राओं पर धाराधोष, शिवदास और रुद्रदास नामक राजाओं के नाम अंकित हैं। ये मुद्राएँ प्रथम शती ई० पू० से प्रथम शती ई० तक की हैं। इन पर महीमित्र, भूमिमित्र आदि कुछ ऐसे राजाओं के नाम मिलते हैं जिनके अन्त में मित्र आता है।

नृपतंत्र—ये छोटे-छोटे राज्य थे जिनके उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं:—

(१) नागवंश, जो कृपाणों के बाद उत्तरी भारत के विभिन्न प्रदेशों में नागों के कई राजवंश हुए। मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी और बिदिशा उनके केन्द्र थे। पद्मावती के भारशिव नाम अधिक शक्तिशाली थे। मुद्राओं से उनके राजा भवनाग का पता चलता है। एक नाग राजकुमारी चन्द्रगुप्त द्वितीय से व्याही थी। पुराणों में पद्मावती के ९ नाग राजाओं का उल्लेख है।

(२) अहिच्छत्रा एक अलग राज्य था जिसके राजाओं के नाम उनकी मुद्राओं पर लिखे हैं। उनके नामों के अन्त में मित्र आता है। ये राजा फाल्गुनीमित्र, अग्नि-मित्र, बृहत्सवातिमित्र हमारे लिये नाममात्र हैं क्योंकि इनके इतिहास का पता नहीं चलता।

(३) अयोध्या के धनदेव, विशाखदेव आदि अयोध्या के राजाओं का पता केवल मुद्राओं से चलता है। सम्भवतः धनदेव पुष्यमित्र के परिवार से संबंधित था, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। उनकी कुछ साम्ये की मुद्राओं पर सत्यमित्र जैसे राजाओं का नाम मिलता है जिनके नामों के अन्त में भी मित्र शब्द आता है।

(४) कौशाम्बी के राजाओं ने ई० पू० प्रथम शती से मुद्राएँ जारी कीं। इनमें से कुछ पर मित्र नामधारी राजाओं के नाम मिलते हैं।

(५) बाकाटक एक प्रसिद्ध राजवंश था जिसे गुप्त सम्राटों ने भी माना और जिसके साथ उन्होंने संबंध स्थापित किए।

(६) मौतरी—उन्होंने सुन्दर वर्मा के नेतृत्व में मगध में एक स्थानीय राज्य की स्थापना की।

गुप्त राजाओं ने आरम्भ में अपना छोटा-सा राज्य स्थापित किया। बाद के शिलालेखों से उनके दो स्थानीय राजाओं, श्रीगुप्त (लगभग २४०-२८० ई०) और घटोत्कच (लगभग २८०-३१९ ई०) का पता चलता है। बाद के एक शिलालेख में श्रीगुप्त को आदिराज अर्थात् वंश का प्रवर्तक कहा गया है और उसका गोत्र धरण बताया गया है। चीनी यात्री ई-चिङ ने, जो ६७५ ई० में भारत आया, 'महाराजा श्रीगुप्त' का विवरण दिया है 'जिसने उससे ३०० वर्ष पहले चीनी यात्रियों के निवास के लिए मृगशिखावन में एक मन्दिर बनवाया।' यदि इस श्रीगुप्त को प्रथम गुप्त राजा मान लें तो उसकी महाराजा नामक उपाधि से यह प्रकट होता है कि उसका स्थान ऊँचा था। उसके उत्तराधिकारी घटोत्कच को भी गुप्त अभिलेखों में महाराजा कहा गया है।

गुप्त अभिलेखों में उसे महाराजाधिराज कहा गया है। यह सम्राट-पद उसने क्षामिद लिच्छवि राजकुमारी के विवाह के फलस्वरूप प्राप्त किया था जो अपने चन्द्रगुप्त साथ लिच्छवि राज्य का दहेज लाई थी। उसके पुत्र ने अपने (प्रथम ३१९- ३३५ ई०) आप को लिच्छवि-दीहिम कहा। उसे अपनी माता के ऊपर ३३५ ई०) गर्व था जिसके कारण गुप्तवंश को सम्राट-पद प्राप्त हुआ था। यह विवाह मुद्राओं पर चित्रित है जिनकी एक ओर चन्द्रगुप्त और दूसरी ओर श्रीकुमारदेवी का नाम अंकित है। मुद्राओं के इसी ओर राजा रानी को विवाह के उपलक्ष में अंगूठी भेंट करते दिखाया गया है। इन मुद्राओं की उलटी ओर लिच्छवि-वयः शीर्षक सारगर्भित लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि लिच्छवि गणतंत्र

के लोग उस प्रदेश के राज्य में, जहाँ से मुद्राएँ प्रचलित थीं, गुप्त सम्राट् के साथ संबंधित थे।

समुद्रगुप्त प्रथम की गुप्त संवत् का प्रवर्तक माना जाता है। ३१९ ई० में उसके राज्याभिषेक के समय से यह संवत् आरम्भ हुआ। यह तिथि अत-वेरुनी के इस कथन पर आधारित है कि शक संवत् और गुप्त-संवत् के बीच २४० वर्ष का अन्तर है। शक संवत् ७८ ई० से शुरू होता है। अतः गुप्त संवत् का आरम्भ ३१९ ई० में सिद्ध होता है।

समुद्र गुप्त पराक्रमिक (लगभग ३३५-३७५ ई०)

उसके राज्य की निम्नलिखित तिथियों का पता है : (१) उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३७५ ई० में अपना राज्य आरम्भ किया जैसा कि उसके मथुरा-कालक्रम स्तम्भ-अभिलेख से ज्ञात होता है। यदि इसमें प्रयुक्त एक शब्द का पाठ 'पंचम' माना जाए। (२) सिंहल के राजा मेघवर्ण ने (जिसका राज्यकाल ३५१ से ३७९ ई० तक है) उसकी सभा में एक दूतमण्डल भेजा। समुद्रगुप्त के राज्यकाल का आरम्भ ३३५ ई० से माना जाता है। ३७५ ई० में वह मरा। इस प्रकार उसके राज्य के ४० वर्ष होते हैं।

यदि २० वर्ष की आयु में उसने राज्य सम्भाला हो तो उसका जन्म ३१९ ई० के लगभग हुआ होगा, जब उसके पिता की अवस्था कम से कम २० वर्ष होगी अर्थात् उसके पिता का जन्म २९५ ई० के आस पास हुआ होगा।

प्रयाग-स्तम्भ-लेख से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त को उसके पिता ने भरी सभा में अपनी इच्छा से उत्तराधिकारी चुना था और उसकी सभा ने इस उत्तराधिकार की मुष्टि की थी, यद्यपि उसके कुछ वंशजों ने इस पर बुरा माना था।

समुद्रगुप्त के राज्य का वृत्तान्त प्रयाग-स्तम्भ-लेख में उपलब्ध है। इसे उसके मंत्री हरिषेण ने लिखा था। हरिषेण चार पदों पर काम करता था। वह लाघट-पाकि (सरकारी रसोई का अधिकारी), सचिव-विग्रहिक (विदेशी और युद्ध मंत्री) कुमारामात्य (सुवराज की सेवा में मंत्री) और महादण्डनायक (मुख्य न्यायाधीश) था। महादण्डनायक तिलभट्टक ने इस सुदीर्घ शिलालेख को पाषाण-स्तम्भ पर उत्कीर्ण किया था।

उक्त शिलालेख समुद्रगुप्त को दिम्बिजयी के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें विभिन्न दिशाओं में उसकी विभिन्न प्रकार की विजय का शिलशिलेवार वर्णन मिलता है। समुद्र गुप्त है। उसकी योजना यह थी कि दूर की विजययात्राओं को शुरू की विजय करने से पहले अपने पिछवाड़े को सुरक्षित करे।

सब से पहिले उसने निकटवर्ती अहिच्छत्रा के राजा अच्युत, पद्मावती के राजा नागसेन और कन्नौज अथवा पुष्पपुर के कोटवंश के अधिपति को परास्त किया और उनके राज्यों को अपने राज्य में मिला लिया। इस विजय प्रथम विजय से उसका राज्य 'प्रयाग और साकेत' से परे तक फैल गया जो पुराणों के अनुसार गुप्तराज्य की सीमाएँ थीं।

समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ अथवा दक्कन के सभी राजाओं को जीत लिया। इन विजयों में उसकी नीति यह थी कि शत्रु को पकड़ने (ग्रहण) के बाद छोड़ दिया जाए (मोक्ष) और विजेता के अनुग्रह से उसे सामंत की हैसियत से फिर उसका राज्य वापिस कर दिया जाए। यह नीति दूर के उन राज्यों के प्रति उपयुक्त थी जिन्हें साम्राज्य में मिलाने के स्वान पर सम्राट की प्रभुत्व के अधीन कर लिया गया। दक्षिण के पराजित नरपति ये थे : (१) कोसल (बिलासपुर, रामपुर और सम्मलपुर के जिले) का महेंद्र, (२) महाकान्तार (उड़ीसा में जयपुर का वन) का व्याघ्रराज, (३) कौराल (कोलेर ज़ील) का मण्डराज, (४) पिष्टपुर (पीठापुरम्) का महेंद्र-गिरि, (५) कोट्टूर (तूनी के निकट कोट्टूर) का स्वामिदत्त, (६) एरम्बल्ल (विजगापटम् जिला) का दमन, (७) कांची का विष्णु गोप (पल्लव वंश का एक राजा), (८) अवमुक्त (इसकी पहचान नहीं की जा सकती है) का नीलराज, (९) बेंगी का हस्तिवर्मा (एक सालकायन राजा), (१०) पालक (नेल्लोर) का उग्रसेन, (११) देवराष्ट्र (विजगापटम जिले का चेलाभिलि तालुका) का कुबेर और (१२) कुस्पलपुर (उत्तरी बर्काट जिले में कुशस्थली नदी का प्रदेश) का धनञ्जय।

दूसरे आर्यावर्त के युद्ध में समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के शेष राज्यों को, जो गणपतिनाग, चन्द्रवर्मा, रुद्रदेव (रुद्रसेन प्रथम काकाटक) आदि नरपतियों के अधीन थे, बलपूर्वक समाप्त करके अपने साम्राज्य में मिला लिया (प्रसंगोद्धरण)। उक्त राजाओं के अतिरिक्त जो अन्य राजाओं के नाम शिलालेख में आए हैं उनके विषय में कोई तथ्य नहीं मिलते। उनके नाममात्र ज्ञात हैं।

परिव्राजक वंश के एक राजा के एक शिलालेख से पता चलता है कि आठ-बिक राज्यों की संख्या १८ थी। इन्हें पूर्णरूप से परास्त करके इनके राजाओं आठविक राज्यों को सम्राट की सेवा के लिए नियुक्त किया गया (परिवारिकी की पराजय कुतसकलादविक राजस्य)।

सीमावर्ती राज्यों ने, जो विद्रोह के केन्द्र बन सकते थे, समुद्रगुप्त को सब कर दिए (सर्वकरदान), उसकी आज्ञाओं का पालन किया (आज्ञाकरण), स्वयं

प्रत्यक्ष-राज्यों पराधीन होकर प्रणाम किया (प्रणामागमन) और उसके से संबंध सुदृढ़ शासन को पूर्णतः परितुष्ट किया (परितुष्टितप्रचण्ड-शासन)। ऐसे राज्य निम्नलिखित थे :—

(१) पूर्वी सीमा के राज्य, जैसे समतट (समुद्र तक फैला पूर्वी बंगाल), कामरूप (असम का गोहाटी जिला) और डवाक (नौगाँव जिला)।

(२) उत्तरी सीमा के राज्य, जैसे नेपाल और कर्तुपुर (कुमायूँ, गढ़वाल और कश्मीर) के पर्वतीय राज्य।

(३) पश्चिमी सीमा के गणतंत्र, जैसे मालव, आर्जुनावन (जयपुर प्रदेश में), आभीर (पश्चिमी राजस्थान में), यौधेय, मद्रक (पंजाब में), सगकानिक (मिलसा में), काक (मिलसा के निकट), खपरिका (दमोह जिले में) और प्रार्जुनक।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं से परे भारत के भीतर और बाहर विदेशी राज्य थे, जैसे सिंहल और समुद्र पार के द्वीप जिनके साथ वह समुचित सम्बन्ध रखता चाहता था जिससे शान्ति स्थापित करने में सहायता मिल सके। उसने उनके साथ निम्नलिखित शर्तों पर "सेवा और सहयोग की संधियाँ" की :—

(१) आत्मनिवेदन (सूत्रों का प्रस्ताव), (२) कन्यापामन (राजमहल में सेवा के लिए कन्याओं का उपहार), (३) दान (स्थानीय वस्तुओं की भेंट), (४) उनकी स्वायत्तता और सुरक्षा (स्वविषय भुक्ति) को प्रमाणित करने वाली मुद्रा-किता सन्तों का याचन।

ये विदेशी राज्य इस प्रकार वर्णित किए गए हैं : (१) दैवपुत्रसाहीपाहा-नुसाही—उत्तर पश्चिम में राज्य करने वाले कुषाण, (२) शक—जो उत्तर पश्चिमी अथवा पश्चिमी भारत में विद्यमान थे, (३) मुरुष—एक कुषाण जाति।

जहाँ तक सिंहल और अन्य द्वीपों के निवासियों का प्रश्न है वह पहिले भी कहा जा चुका है, कि सिंहल के राजा ने समुद्रगुप्त की राजसभा में उपहार-सहित एक दूतमण्डल भेजकर बोधगया में चीनी यात्रियों के ठहरने के लिए एक मन्दिर बनवाने की अनुमति माँगी थी। चीनी यात्री फा-श्यान ने जावा जैसे द्वीप में एक सम्पन्न हिन्दू उपनिवेश का साक्षात्कार किया था। इस प्रकार समुद्रगुप्त को एक याज्ञिकसाध्वी नी-सेना रखने का श्रेय दिया जाना चाहिए जिसने वह समुद्रपार के द्वीपों और देशों से अपना सम्बन्ध रख सका। इस प्रकार उसके काल में गृहतर भारत का श्रीगणेश हुआ।

समुद्रगुप्त की मुद्राओं और उनके लेखों से ज्ञात होता है कि उसने अपनी विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया जिससे प्रकट होता है कि वह वास्तव

में अजेय शक्ति रखता था (अप्रतिबाधवीर्यः)। इन मुद्राओं पर उसने अश्वमेधपराक्रम विरुद्ध का प्रयोग किया। किन्तु प्रयाग-शिलालेख में इस महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं है। इससे बूलर ने यह अनुमान लगाया है कि यह शिलालेख अश्वमेधयज्ञ से पहिले खुदवाया जा चुका था। अन्य विद्वानों का यह विचार ठीक नहीं है कि शिलालेख अश्वमेधयज्ञ के बाद का है। प्रभावर्तमानुष्ठा ने अपने अभिलेखों में उसे अनेक अश्वमेधयज्ञों का कर्ता बताया है।

समुद्रगुप्त ने विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ जारी की जिनसे उसके गुण और कर्म प्रकट होते हैं। ध्वज-प्रकार की मुद्राओं से उसकी प्रभुशक्ति प्रकट होती है, धनुष और बृद्ध-परणू प्रकारों से उसकी सामरिक शक्ति का आभास मिलता है, वीणावादन प्रकार से उसके संगीतप्रेम का और अश्वमेध प्रकार से उसकी विजय का परिचय प्राप्त होता है। व्याघ्रहंता प्रकार की मुद्राओं से उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश की वनभूमियों पर उसकी विजय परिलक्षित होती है क्योंकि इस प्रदेश में बड़ा बंगाल का व्याघ्र पाया जाता है। गुप्तकालीन कुछ ऐसी मुद्राएँ मिलती हैं जिन पर राजा का नाम काच और उसका विरुद्ध सर्वराजोच्छेता (सर्व राजाओं का उच्छेद करने वाला) अंकित है। यह विरुद्ध समुद्रगुप्त पर ही लागू हो सकता है क्योंकि गुप्त सम्राटों में वही विजिज्यवी था। इस दृष्टि से काच समुद्रगुप्त का ही अपर या वैयक्तिक नाम प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त सम्भवतः उसका राजकीय अभिधान था जिससे समुद्र द्वारा सुरक्षित (गुप्त) उसके साम्राज्य का संकेत मिलता है। ब्यामा-समूह से प्राप्त काच प्रकार की मुद्राओं के उलटी तरफ देवी को पाश (पन्दा) लिए दिखाया गया है।

यद्यपि गुप्त-मुद्राएँ सामान्यतः विदेशी कृपाण मुद्राओं के नमूनों पर बनाई गई थीं तथापि उनमें से कुछ पर भारतीय तत्व और प्रतीक मिलते हैं, जैसे राजा की वेश-भूषा, दुर्गा, लक्ष्मी और कार्तिकेय आदि भारतीय देवी-देवताओं की आकृतियाँ, व्याघ्र, सिंह, गैंडा, हाथी आदि भारतीय पशुओं के चित्र तथा गरुडपूज का अंकन।

मुद्राओं और शिलालेखों में समुद्रगुप्त के लिए अनेक विशेषण व्यवहृत हुए हैं : अजेय शक्ति वाला (अप्रतिबाधवीर्यः), 'अजित राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाला अजेय विजेता' (अजितराजवेताजितः), 'व्याघ्र के समान बलवान और भयंकर' (व्याघ्रपराक्रमः), 'अपनी सैनिक शक्ति से देश का एकीकरण करने वाला (धरणीबन्धन्य) तथापि 'कोमल हृदय वाला' (मृदुहृदय), 'दक्षित लोगों पर दया (अनुकंपा) करने वाला', परोपकार (लोकानुग्रह) की आवश्यकता (समिद्ध)

मूर्ति (विषह्वान्)', 'लोकोत्तर प्राणी (अमनुज) और कवियों का राजा (कवि-राज) ।'

समुद्रगुप्त की विजययात्राओं से प्रकट होता है कि उसका साम्राज्य पूर्व में ब्रह्मपुत्र से पश्चिम में यमुना और चम्बल तक फैला था ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१४ ई०)

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शिलालेखों से उसके साम्राज्य के विस्तार का पता चलता है । इन शिलालेखों में सब से पहिला ६१ = ३८० ई० का है । यह तिथि उसके राज्य के पाँचवें वर्ष को सूचित करती है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है । उसका अन्तिम शिलालेख ९३ = ४१२ ई० का है । उसकी मुद्राओं पर भी कुछ तिथियाँ मिलती हैं जिनका केवल प्रथम चिह्न ठीक तरह से पढ़ा जा सकता है । यह तिथि ९० = ४०९ ई० है ।

प्रचलित पद्धति के अनुसार उसके पिता ने उसे योग्यतम (सत्पुत्र) समझ कर राज्य-सिंहासन के लिए चुना । शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसकी माता राज्यारोहण का नाम दत्तदेवी था ।

चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी मालवा और सौराष्ट्र के शक राज्यों पर विजय प्राप्त की । उसके उदयगिरि की मुद्रा से प्राप्त शिलालेख से प्रकट होता है कि वह स्वयं अपने मंत्री पाटलिपुत्र-निवासी साय के साथ पश्चिमी भारत के अभियान के अवसर पर इस प्रदेश में आया । साय ही उसने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता (जो कुबेरनागा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी) का विवाह बरार के वाकाटक-वंशीय राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ करके अपनी शक्ति को सुदृढ़ किया । उसकी मुद्राएँ पश्चिमी क्षत्रप राज्य पर उसकी विजय का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं । शक नरेश रुद्रसेन तृतीय की ३८८ ई० की मुद्राएँ शक-मुद्राओं में सब से अन्तिम हैं । इसके अनन्तर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ९० = ४०९ ई० से इस प्रदेश को जीत कर अपनी मुद्राएँ जारी कीं ।

देवीचन्द्रगुप्तम् नामक नाटक में एक कथानक है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहिले गद्दी पर उसका डरपोक भाई रामगुप्त बैठा जो अपने राज्य की रक्षा के लिए अपनी रानी ध्रुवदेवी को शक आक्रमणकारी को समर्पित करने के लिए तैयार हो गया जिस पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने रानी के वेश में उसके पास जाकर उसका बध किया और उसके दुष्टतापूर्ण षड्यन्त्र का अन्त किया । इस कथा की ओर वाण ने हर्षचरित में और राजशेखर ने काव्यमीमांसा में संकेत किए हैं । इसके अतिरिक्त नवी-दसवीं शतियों के राष्ट्रकूट राजाओं के कुछ शिलालेखों में इसका उल्लेख मिलता है । किन्तु कथा

इतिहास नहीं होती। रामगुप्त का नाम किसी गुप्त शिलालेख में नहीं मिलता, वरन् इनमें चन्द्रगुप्त को समुद्रगुप्त का सीधा उत्तराधिकारी बताया गया है और साथ ही उसे राजर्षि की पदवी दी गई है जिससे ज्ञात होता है कि यह कथा एक-दम असम्भव है क्योंकि यह चन्द्रगुप्त को अपने भाई के हत्यारे और उसकी विधवा राजा के पात के रूप में प्रस्तुत करती है।

शिलालेखों से चन्द्रगुप्त के कुछ मंत्रियों और राज्याधिकारियों का पता चलता है : आनकादेव, याच बोरसेन, शिखरस्वामी, महाराज श्री गोविन्दगुप्त उनके मंत्री थे। इनके अतिरिक्त इनमें बलाधिकृत (सेनापति) दण्ड-शासन (पाशाधिकारी (पुलिस विभाग का मुख्य), महादण्डनायक (महान्यायाधीश), उपरिक्त (राज्यपाल) आदि अधिकारियों के विषय में भी सूचना मिलती है।

राज्य के प्रशासकीय विभाग इस प्रकार थे :—(१) विषय (जिला), (२) प्रदेश और (३) देश अथवा भुक्ति, जिससे प्रान्त का बोध होता था।

राजकुमार प्रान्तों के राज्यपाल होते थे उदाहरणार्थ गोविन्दगुप्त उत्तरभुक्ति (तिरहुत) के राज्यपाल थे और घटोत्कचगुप्त ऐरिकिण-प्रदेश (एरण) के प्रशासक थे।

निगमों और श्रेणियों के द्वारा आर्थिक जीवन का संचालन होता था। सेठों (श्रेष्ठों), व्यापारियों (साधवाह) और कारीगरों (कुलिक) की श्रेणियों के आर्थिक कतिपय उल्लेख वैशाली से प्राप्त अनेक मुद्राओं और अन्य स्थलस्थ शिलालेखों में उपलब्ध हैं।

सांची के कारुनादबोट के महाविहार का आरंभ एक बौद्ध का काम करता था जहाँ अक्षय तिथियाँ न्यास के रूप में रखी जाती थीं और उनके व्याज से उनसे सम्बन्धित कार्य सम्पन्न किए जाते थे।

गुप्त-सम्राट् वैयक्तिक रूप से विष्णु के उपासक थे जिसका वाहन गरुड़ उनके राष्ट्रध्वज का प्रधान चिह्न था। ये सम्राट् अपने को परमनागवत् कहते थे।

उदयगिरि की गुफाओं में विष्णु और लक्ष्मी से सम्बन्धित अनेक धर्म मूर्तियाँ मिली हैं। वहाँ बाराह अवतार की एक बृहद् मूर्ति विद्यमान है जिसमें भगवान् बाराह को जलमग्न पृथ्वी का उद्धार करते दिखाया गया है। सम्भवतः यह मूर्ति जून आधिपत्य से भारत के उद्धार की प्रतीक है। निकट ही एक गुफा भगवान् शम्भु की समर्पित है। मथुरा से प्राप्त ३८० ई० के एक शिलालेख से माहेश्वर नामक एक बौद्ध सम्प्रदाय का पता चलता है जिनके गुरु उदितार्थ ने अपने गुरुओं का एक मन्दिर (गुरु आश्रम) बनवाया और उसमें उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराईं।

चन्द्रगुप्त को मुद्राओं के कई प्रकार मिले हैं : (१) धनुर्धर प्रकार, (२) पीठिकारुद्र प्रकार, (३) छत्र-प्रकार, (४) सिंह-हंता प्रकार, (५) अश्वारोही प्रकार, (६) चक्रविक्रम प्रकार । यमाना संग्रह से प्राप्त धनु-धर शैली की एक मुद्रा पर राजा को हाथ में कण (कोड़ा) लिए दिखाया गया है । इन मुद्राओं से चन्द्रगुप्त की नवीन उपाधियों का पता चलता है (१) में देवधी, (२) में देव श्रीविक्रमादित्य, (४) में सिंहविक्रम, (६) में चक्रविक्रम । छत्र प्रकार की मुद्राओं पर परम्परा के अनुसार एक वामन को छत्र उठाए दिखाया गया है । सिंह-हंता प्रकार की मुद्राओं के पीछे सिंहबाहिनी दुर्गा अंकित हैं । चन्द्रगुप्त ने शक राजत मुद्राओं को विक्रमांक के विरुद्ध से पुनराहत किया ।

फा-ह्यान द्वारा वर्णित भारत (३९९-४१४ ई०)

चीनी विद्वान् फा-ह्यान ने बौद्ध चिन्तन के ग्रन्थों की खोज के लिए भारत की तीर्थयात्रा की । उसने बौद्धधर्म के प्रमुख केन्द्रों और विहारों के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ छोड़ी हैं । शाल-जान प्रदेश में उसने ४००० हीनयानी बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख किया है । काशमिर में भी उसने बौद्ध भिक्षुओं की यही संख्या लिखी ।

महायान बौद्ध धर्म का केन्द्र था । वहाँ सहस्रों भिक्षु थे । अकेले गौमती बिहार में ३००० भिक्षु रहते थे । लोतान में ऐसे १४ विहार थे । सम्भवतः कनिष्क की छत्रछाया में इस प्रदेश में महायान बौद्ध-धर्म के प्रचार और लोतान प्रसार को इसी प्रेरणा मिली । पास ही काशमिर के इलाके में १००० हीनयानी बौद्ध भिक्षु रहते थे ।

इसके बाद यात्री ने सिन्धु को पार किया और उद्यान में एक अन्य बौद्ध-केन्द्र के दर्शन किए जहाँ संस्कृत का प्रचार था ।

तदनन्तर उसने गन्धार, तक्षशिला और पेशावर के बौद्ध प्रदेशों का निरीक्षण किया । पेशावर में उसने कनिष्क के स्तूप का वर्णन किया है ।

नगरहार में उसने बुद्ध के अवशेषों पर बने मन्दिर देखे ।

अफगानिस्तान में महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों के ३००० भिक्षु थे ।

पञ्जाब बौद्ध भिक्षुओं से भरा था जिनकी संख्या इस यात्री ने १०,००० लिखी है ।

मथुरा पश्चिम हिन्दूधर्म का गढ़ था तथापि वहाँ २० बौद्ध विहार थे जिनमें लगभग ३००० भिक्षु रहते थे ।

तदनन्तर वह मध्यदेश में आया जहाँ भारतीय सम्प्रदाय अपने उत्कृष्ट रूप में व्याप्त थी । उस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य में "कोई व्यक्ति किसी प्राणी

को हत्या नहीं करता था, न मद्यपान करता था और न व्याज-लघुन का प्रयोग करता था ।" लोगों को धूमने-फिरने और यत्ने की पूरी स्वतंत्रता भी और वे 'पूर्णतः समृद्ध और प्रसन्न थे । अपराधों का दण्ड जुमाने के रूप में दिया जाता था । किसान अपनी उपज का एक भाग कर के रूप में राज्य को देते थे ।" लोग सुअर और मृगियों नहीं पालते थे और न पशुओं का व्यापार करते थे । मद्यशालाओं और मूत्रप्रस्थानों का अभाव था । धनपति और जमींदार मन्दिर बनाते थे और दान देकर उनके प्रबन्ध की व्यवस्था करते थे । भूमि, गृह, उद्यान, बैल इत्यादि कृषि के सामान की व्यवस्था के लिए दान दिये जाते थे और उन्हें ताम्रपत्रों के द्वारा स्थायित्व प्रदान किया जाता था । दानी परोंपकारी यात्रियों के लिए धर्म-शालाएँ बनवाते थे जहाँ यात्रियों को पलंग-बटाई और खाना-कपड़ा मिलता था ।

सारिपुत्र, मोग्यल्लान, खानन्द एवं अभिघम्म, विनय और सुत्तो आदि धर्म-ग्रन्थों के भी सम्मान में मन्दिर बनवाए गये थे ।

धर्मपरायण परिवार भिक्षुओं को भोजन-वसन आदि वस्तुएँ प्रदान करने के लिए चन्दा जुटाते थे ।

फा-ह्यान को संकिता और श्रावस्ती (जहाँ जेतवन था) बौद्ध भवनों से भर-पूर मिले ।

हिन्दू धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था जिनकी संख्या इस यात्री ने १६ लिखी है ।

फा-ह्यान ने उन स्थानों का भी उल्लेख किया है जहाँ सिद्धार्थ से पहिले बुद्धों की पूजा होती थी । इन बुद्धों में काश्यप, ककुच्छन्द और कनकमुनि प्रमुख हैं । फा-ह्यान ने लुम्बिनी और वैशाली की भी यात्रा की ।

वहाँ से गंगा पार करके वह पाटलिपुत्र पहुँचा जहाँ कभी अशोक की राज-धानी थी । वहाँ उसने अनेक मण्डपों से सुसज्जित अशोक के राजभवन को देखा जो देवताओं द्वारा बनाया गया प्रतीत होता था । इसके विशाल शिलापट्ट, द्वार और भित्ति, खूदाई और भराई के काम की पच्चीकारी ऐसी अद्भुत थी कि इसे मनुष्य के हाथों द्वारा बनाई गई नहीं कहा जा सकता था ।

मगध बहुत समृद्ध और सम्पन्न था । वहाँ के लोग पड़ोसियों के प्रति हादिक और नैतिक उदारता प्रकट करने में एक दूसरे से होड़ लगाते थे । बड़े-बड़े धन-पतियों ने अपने नगरों में निरपेक्ष चिकित्सालय खोलवा रखे थे जहाँ निर्धन और असहाय रोगियों, अनाथ बच्चों, विधवाओं और लँगड़े-लुलों की चरण मिलती थी । उनकी काफ़ी देख रेख होती थी । चिकित्सक उन्हें ध्यान से देखते थे । उन्हें आवश्यकता के अनुसार भोजन और दवा मिलती थी । हर तरह से आराम पहुँचाया जाता था । स्वस्थ होकर वे मूल से बिदा होते थे ।

फा-ह्यान ने पाटलिपुत्र में अशोक का विहार देखा जिसमें एक स्तम्भ पर शिलालेख खुदा था। एक अन्य स्तम्भ का शीर्ष सिंहाकृति से सुसज्जित था। वहाँ उसने ब्राह्मणों की रथयात्रा भी देखी जिसमें देवप्रतिमाओं को चार पहियों की पाँच तल्ले वाली गाड़ियों में रखकर नगर में निकाला जाता था।

उसके बाद वह नालन्दा आया। वहाँ उसने प्राचीन विहार के दर्शन किये और फिर वह राजगृह चला गया। वहाँ गृध्रकूट पर्वत पर उसे याद आया कि भगवान् बुद्ध वहाँ रहे थे और उपदेश किया करते थे और वह फूट-फूटकर रो पड़ा।

इसके बाद फा-ह्यान ने गया, बौद्ध-गया और फिर सारनाथ के इसि-पतनमृगदास की यात्रा की।

अब उसने अपनी वापसी की यात्रा प्रारंभ की। वह गंगा के रास्ते तामलुक पहुँचा जो २४ विहारों से युक्त एक महान् बौद्ध-केन्द्र था। वहाँ दो वर्ष तक रहकर उसने बौद्ध सूत्रों की प्रतिलिपि की और बौद्ध प्रतिमाओं के चित्र बनाये।

तामलुक से वह एक बड़े व्यापारी जहाज पर बैठकर १४ दिन की समुद्र-यात्रा के बाद सिंहल पहुँचा। वहाँ वह दो वर्ष तक रहा। सिंहल में उसने अनेक बौद्ध संस्कृत-ग्रंथों की प्रतिलिपि की।

उसके बाद वह एक व्यापारी जहाज पर बैठा। उसके साथ उसी जहाज पर २०० अन्य प्राणी भी थे। उसी से बँधा एक छोटा जहाज भी था। यदि देवात् कोई दुर्घटना हो जाय तो यह जहाज उस समय प्रवांग में लाया जा सकता था।

९० दिन की समुद्री यात्रा के उपरान्त वे जावा पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण और अब्राह्मण धर्म फल-फूल रहे थे। बौद्ध धर्म की अवस्था शोचनीय थी।

जावा में ५ महीने रहकर वह जहाज पर चढ़कर अपने घर की ओर चला। जिस जहाज पर वह था उस पर २०० और यात्री थे और ५० दिनों की रसद थी। ८२ दिन में वे चीन पहुँचे।

कुल मिलाकर फा-ह्यान ने ३० देशों की यात्रा की थी। यात्रा में ही कुल छः वर्ष लगे थे। छः वर्ष वह भारत में रहा। यहाँ की सारी कठिनाइयों का सामना करता हुआ वह अपने उद्देश्य की सिद्धि में खुदा रहा।

कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४-४५५ ई०)

इसके काल का ज्ञान दो अभिलेखों से होता है। एक अभिलेख ४१५ ई० का है और दूसरे पर १२९=४४२ ई० की तिथि अंकित है। उसके एक चाँदी के सिक्के पर १३६=४५५ ई० की तिथि अंकित है।

उसके अभिलेखों में उसे दिग्विजय का श्रेय दिया गया है। इनमें चारों समुद्रों (चतुर्दश) तक उसके यश के फैलने का वर्णन है। लिखा है कि उसका

साम्राज्य उत्तर में कैलास पर्वत से दक्षिण में उस वन तक था जिसके दोनों ओर दो समुद्र हैं। जैसा कि उसके सिक्कों से विदित होता है उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। उसे 'अश्वमेध महेंद्र' कहा गया है।

कुमारगुप्त के राज्यकाल के सूचक दो शिलालेख ४१५ और ४४८ ई० के हैं और उसकी एक रजतमूद्रा से ३३६ = ४५५ ई० तिथि का ज्ञान होता है।

शिलालेखों में उसके "निरन्तर वर्धमान राज्य और विजयों" का उल्लेख है जिनके कारण उसका यश चारों समुद्रों तक पहुँच गया (चतुर्दश सलिला-स्वादित यशसः) और उसका साम्राज्य उत्तर में कैलास के शिखरों से बिम्ब्याटवी की होता हुआ दक्षिण में दोनों समुद्रों के तटों तक फैल गया। उसकी मूद्राओं पर अंकित अश्वमेधमहेंद्रः विह्व से ज्ञात होता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया।

किन्तु अपने राज्य के अन्तिम दिनों में उसे 'पुष्पमित्र आदि जातियों' के विद्रोह के कारण मुसीबतों का सामना करना पड़ा। ये जातियाँ सम्राट के आसपास रहती थीं। युवराज स्कन्दगुप्त ने इन्हें अन्त में एक भीषण युद्ध के पश्चात् परास्त कर दिया। इस युद्ध में युवराज को "एक रात जमीन पर सोकर बितानी पड़ी।"

किन्तु कुमारगुप्त का राज्य शान्तिकालीन विद्याकलाओं के लिए प्रसिद्ध है। इस काल में अनेक मन्दिरों के निर्माण हुए और उनमें खूब दान दिये गए। मालव संवत् ४९३ (४३६ ई०) के शिलालेख में रसम बुनने वालों की श्रेणी (पट्ट-वापश्रेणी) द्वारा वरापुर (मन्दसौर) में सूर्य के एक विशाल मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। अन्य शिलालेखों में विष्णु, पांड्यमातृकाओं और उनकी डाकिनियों स्वामी महादेव, पृथ्वीेश्वर महादेव, बुद्ध भगवान्, सम्भ्राम्भुद्ध और जिनवर पार्श्व के मन्दिरों के निर्माण का वर्णन है।

दान द्वारा दानशालाएँ (सव) खुलवायी गईं, कुएँ बनवाये गए, बाह्यणों और उनके यज्ञों के लिए दान दिये गए, पंचमहायज्ञ और अन्य श्रौत कर्मकाण्डों के लिए व्यवस्था की गई।

दान के न्यासों को अक्षयनीवी कहते थे। ये स्थायी घन-न्यास होते थे जिनके व्याज से श्रणियाँ उनके उद्देश्यों की पूर्ति करती थीं। यह वैक-जैसा काम था। काकनादबोट (साँची) के श्री महाविहार के आर्यसंघ के पास ऐसी ही एक अक्षयनीवी धरोहर के रूप में रखी गई थी।

साम्राज्य को पृथिवी कहते थे। (१) राज्य (देश), (२) प्रान्त (भुक्ति), (३) जिले (विषय), तहसील (बीथी) इसके विभागोपविभाग थे। विषय में गैर-सरकारी चार सवस्थों की एक परामर्श-समिति काम करती थी। इसमें (१) नगरखेण्डी, (२) सार्ववाह, (३)

प्रथम कुलिक और (४) प्रथम कायस्थ होते थे जो कमशः नगर, व्यापार, उद्योग और शासन का प्रतिनिधित्व करते थे। बीबी-सभा में दो प्रकार के सदस्य होते थे, (१) महत्तर, स्थानीय बड़े आदमी, (२) कुटुम्बी अर्थात् पारिवारिक गृहस्थ। कार्यालयों में पुस्तपाल (मूहाफिज-दफ्तर), कायस्थ कलक और कुलिक (कारीगर) काम करते थे।

मिलालेखों से, विशेषतः उत्तरी बंगाल के दानोदरपुर नामक ग्राम से प्राप्त सामगमट्टों की शृंखला से, उस युग में भूमि के आदान-प्रदान से संबंधित बहुत-सी सूक्ष्म बातों का पता चलता है। जो भूमि दान में दी जाती थी वह बेची नहीं जा सकती थी वरन् जमी-बी-तैबी सुरक्षित रखी जाती थी जिससे उसकी उपज से दान का उद्देश्य पूरा होता चले। यह भूमि कृष्ट नहीं होती थी, जिसे बाँध सड़ते हैं, वरन् खिल (बंजर), अप्रहत (जो तोड़ी न गई हो) और अ प्रतिकर (जिसका कर नियत न हुआ हो) होती थी। कभी-कभी ऐसी भूमि मिलनी कठिन हो जाती थी जिसमें खेती न हुई हो। दूर-दूर के बहुत-से खेतों में से मिला-बुला कर ऐसी भूमि विशिष्ट की जाती थी। इस प्रकार की भूमि के दान का प्रस्ताव ग्राम की प्रतिनिधि भूमि-समिति द्वारा अनुमोदित किया जाता था। इस समिति ने (१) ग्राम-महत्तर, (२) अष्टकुलाधिकरण (आठ सदस्यों की कार्य-कारिणी), (३) ग्रामिक (गाँव का मुखिया) और (४) कुटुम्बी (गाँव के परिवारों के अध्यक्ष) सम्मिलित होते थे। यह समिति पुस्तपाल द्वारा लिखित बन्दोबस्त की मिसिलों के अनुसार और स्वयं मोके का मुआयना करने के बाद दान के प्रस्ताव का समर्थन करती थी।

कुमारगुप्त प्रथम ने कई प्रकार के सिक्के जारी किए जैसे (१) धनुषांसी प्रकार, (२) सङ्गधारी प्रकार, (३) अश्वारोही प्रकार, (४) सिंहनिहंता प्रकार, (५) गैंडा-हता प्रकार, (६) व्याघ्र-हता प्रकार, (७) मृदाण् गजारोही प्रकार, (८) मयूर प्रकार, (९) अश्वमेध प्रकार, (१०) प्रताप प्रकार, (११) छत्र प्रकार, (१२) बीणावादक प्रकार, (१३) अप्रतिघ्न प्रकार, (१४) राज-दंती प्रकार। अश्वारोही प्रकार की मृदाओं की उत्पत्ती तरफ एक देवी मोर की ध्वज मिलाती हुई अंकित की गई है। यह देवी श्रीचण्डी में वर्णित अम्बिका मयूरवर वाहना होनी चाहिए। मयूर प्रकार की मृदाओं पर कातिकेय अपने बाहन मयूर पर जासीन है। गैंडा हता प्रकार की मृदाओं पर अश्वारोही सनाट्ट तलवार से एक गैंडे को मारता हुआ चित्राया गया है। इस पर भर्तासङ्गधाता लेख उत्कीर्ण है। गैंडे को संस्कृत में खड्ग कहते हैं। गजारोही प्रकार की मृदाओं पर क्षत्रिपु गोप्ता राजा (धनुषों का बंध करने वाला और प्रजा का रक्षक राजा) लेख मिलता है। कुछ अन्य मृदाओं पर सिंह-

निम्नता (घोर की मारनेवाला) लेख उगलना है। उसकी चाँदी की मुद्राएँ उसके पिता द्वारा विजित पुराने शक क्षेत्रों में चालू थीं। ये कई 'प्रकार' की हैं।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-४६७ ई०)

उसका राज्य उसके दो शिलालेखों की तिथियों, ४५५ तथा ४६७ ई० के बीच में रहा। उसकी चाँदी की मुद्राएँ भी ४६७ ई० तक की मिलती हैं। वह अपने पिता के पन्नास राजसूय पर बैठा। उसने युवराज की स्थिति में अपने पिता की ओर से मुद्रों में भाम लिया था।

राजा बन कर उसने इनका उपसंहार किया था। वे युद्ध उसके शिलालेखों में गणित हैं। उसने अपनी माता देवकी को अपनी विजयों की सूचना दी। उसने नयी विजयें भी प्राप्त की। उसने हूणों को भयंकर मुद्रों में परास्त किया जिनसे 'भूमि हिल उठी।' उसने म्लेच्छ राजाओं के दण्ड चलन किया, जिन्होंने मिलकर उसके विरुद्ध सिर उठाया था (समुद्रितबलकोशान्)। उसने स्थानीय विद्रोही राजाओं के विरुद्ध अपने प्रान्तीय राज्यपालों को नियुक्त किया जिन्होंने मरुदों की तरह फल उठाये सर्पों को खा लिया।

काहीम के स्तम्भ-लेख में उसके पराक्रम का इन शब्दों में गुणगान किया गया है: 'सैकड़ों राजाओं के सिर दरबार (उपस्थान) में नमस्कार करते समय उसके चरणों में नत हुए। वह सैकड़ों नरपतियों का सम्राट् (श्रितपशतपति), इन्द्र का समकक्ष (शक्रोपम) और अपने साम्राज्य में शान्ति का संस्थापक था।' उसका पिता यह देशने के लिए जीवित नहीं रहा कि उसके योग्य पुत्र ने, जिसकी आत्मा पवित्र थी (असलात्मा), किस प्रकार अपने बाहुबल से उसके जीवनकाल में आक्रान्ता राजाओं द्वारा विप्लव और बिचलित गुप्त-कुल-लक्ष्मी की पुनः संस्थापित किया और शान्ति तथा स्थायित्व प्रदान किया।

जुनागढ़ के शिलालेख से शासनसंबंधी कुछ रोचक तथ्यों का पता चलता है। सम्राट् ने पर्णदत्त की सौराष्ट्र-प्रदेश का मोप्ता (राज्यपाल नियुक्त किया)।

यह एक कठिन कार्य था। राजा ने उसे कठिनता से इसके शासन लिए तैयार किया। वह स्वयं उसकी राजधानी गिरिनगर के नगराध्यक्ष (मैयर) के पद के लिए एक योग्य व्यक्ति की खोज में था। उसे अपने योग्य पुत्र की उस दायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त करता पड़ा।

नर्म नगराध्यक्ष की एक आकस्मिक आपत्ति का सामना करना पड़ा। उर्वर-पत और दैवतक पर्वतों के डालों से निकलती पलाशनी, गुणधनिकता आदि नदियों के जल को बाँध कर जो (सुदर्शन झील तटक) बनायी गयी थी उसके

पुष्टे में दरार (विभेद) पड़ने से नगर की जल-व्यवस्था संकट में पड़ गई। झील के जल को, जो समुद्र के समान गहरी थी (निमित्तुल्य), निकाल कर उसे खाली किया गया। इससे झील भरी (दुर्दशन) लगने लगी और नागरिकों का मन विषाद में भर गया। किन्तु चक्रवर्तिन ने समयानुकूल, व्यय की चिन्ता न कर के, १०० हाथ लम्बे, ६८ हाथ चौड़े और ७ पोरसे ऊँचे बांध को सम्मत करा दी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सुदर्शन झील चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक जितनी पुरानी थी और सताव्दियों तक अपने सौन्दर्य के साथ सुतसुत तक विद्यमान रही।

शिलालेखों से विभिन्न धर्मों के मन्दिरों की स्थिति का पता चलता है। पिरनगर के नगराध्यक्ष ने नगर को भगवान् चक्रभृद् के मन्दिर से सुसज्जित किया। बिहार स्तम्भलेख में भगवान् स्कन्द और देवमानुषार्जों के मन्दिरों के मङ्गल और एक युग का वर्णन मिलता है। एक अन्य शिलालेख में सूर्य के मन्दिर का उल्लेख है। आकाश जैसे ऊँचे एक स्तम्भ के कोनों में जैन आदिकर्त्ताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण थीं।

उद्योगों का संचालन श्रेणियों द्वारा होता था। हमें एक तेलियों की श्रेणी (तैलिक श्रेणी) का उल्लेख मिलता है जिसे एक ब्राह्मण ने एक स्थायी (आज-स्मिक) कोश जमा करने के लिए उपयुक्त समझा। वैकों आर्थिक जीवन की तरह श्रेणियाँ कोश के व्याज को दान के निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए व्यय करती थीं। यह दान-पत्र लिखित होता था (दायमिमं निबद्धम्)। इस प्रकार के स्थायी कोश की अक्षयनीयता कहते थे।

स्कन्दगुप्त ने तीन प्रकार की मुद्राएँ चलाईं : (१) धनुर्धर, (२) राजा और लक्ष्मी प्रकार और (३) अश्वारोही प्रकार। उसने पश्चिमी और मध्य भारत के लिए चाँदी की मुद्राएँ भी जारी कीं। पश्चिमी मुद्राओं में बुधम दौली की मुद्राएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनको बाद में बलभी के मौरक सम्राटों ने अपना लिया था।

यह स्कन्दगुप्त के साम्राज्य का अंग थी और सेनापति भटार्क के अधीन थी। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र धरसेन प्रथम था। उसके बाद उसका पौत्र द्रोणसिंह सिंहासन पर बैठा। गुप्त सम्राट् ने ५०२ ई० में स्वयं एक स्वतंत्र राजा के रूप में उसका अभिषेक किया। यह राजा सम्भवतः बुधगुप्त था।

गुप्तगुप्त विजय प्रकाशादित्य (४६७-६९ ई०)

स्कन्दगुप्त के बाद उसका भाई पुरुगुप्त गद्दी पर बैठा। यह महादेवी अमल-

देवी का पुत्र था। उसके समय में राज्य बहुत संकुचित हो गया जैसा कि मुद्राओं से प्रकट होता है। चाँदी की मुद्राओं के अभाव से प्रकट होता है कि सोराष्ट्र से उसका अधिकार उठ गया था। सोने की मुद्राएँ केवल एक धनुषांरी प्रकार की ही मिलती हैं जिनसे उसके नाम पुरु तथा विरुद भी विक्रम का पता चलता है। कुछ मुद्राओं पर प्रकाशादित्य नाम भी मिलता है जिसकी पहचान एलन ने पुरुगुप्त से की है।

मालवा से प्राप्त मुद्राओं पर जो लेख उल्कीर्ण हैं उनसे निम्नलिखित उत्तराधिकारियों की तालिकाएँ मिलती हैं—कुमारगुप्त द्वितीय (४७३ ई०), बुधगुप्त पुरुगुप्त के (४७६-४९५ ई०), नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त तृतीय, उत्तराधिकारी विष्णुगुप्त।

कुमारगुप्त द्वितीय क्रमादित्य (४७३-४७६ ई०)

सारनाथ से प्राप्त एक बूढ़ प्रतिमा पर उल्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् १५४=४७३ ई० में कुमारगुप्त "पृथ्वी पर राज्य कर रहा था"। एक स्थानीय राजा हस्ति के एक लेख से पता चलता है कि १५६ गुप्त संवत्=४७५ ई० में उसका राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग था। उपरोक्त बूढ़ प्रतिमा को भिक्षु अभयमित्र ने स्थापित कराया था। इसे प्रतिमा-अप्रतिमत्व (अप्रतिम की मूर्ति) बताया गया है।

मालव संवत् ५२९=४७२ ई० के मन्दसौर से प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त "पृथ्वी पर शासन कर रहा था"।

कुमारगुप्त द्वितीय ने धनुषांरी प्रकार की मुद्राएँ जारी की जिनकी सीपी ओर 'कु' शब्द अंकित है और उल्टी ओर क्रमादित्य लिखा है। घटिया वनावट की कुछ मुद्राओं पर महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तक्रमादित्य लेख मिलता है जिससे उसके सम्राट्-पद का आभास होता है।

बुधगुप्त (४७६-४९५ ई०)

उसकी कुछ तिथियाँ शिलालेखों में मिलती हैं। यति अभयमित्र ने सारनाथ में दो और बूढ़ प्रतिमाएँ स्थापित कराईं जिन पर इस आशय के लेख उल्कीर्ण हैं कि १५७=४७६ ई० में बुधगुप्त राज्य कर रहा था। दामोदरपुर ताम्रपट्ट (द्वितीय) के १६३-४८२ ई० में बुधगुप्त के राज्य का उल्लेख है। यह तिथि दामोदरपुर ताम्र-पट्ट (तृतीय) पर भी अंकित मिलती है। एरण के एक शिलालेख में १६५=४८४ ई० में बुधगुप्त के शासन की चर्चा है। एक चाँदी की मुद्रा पर १७५=४९४ ई० अंकित है जो उसके राज्यकाल की अन्तिम वर्णित तिथि है।

दामोदरपुर ताम्रपट्टों (नम्बर २-४) में भूमि के सोदे परम्परागत रीति

से सद्मता के साथ वर्णित है। पहाड़पुर (पूर्वी पुण्ड्रवर्धन) से प्राप्त १५९=४७९ ई० के एक ताम्रपट्ट में ब्राह्मणों द्वारा एक जैन विहार को भूमि के सौदे दिये गये भूमि के दान का उल्लेख है। मुँगेर के एक ताम्रपट्ट लेख में, जिसकी तिथि १६९=४८८ ई० है, एक ब्राह्मण को दिये गये दान (अक्षयनीवि) का उल्लेख है जिसमें बहू बलि, बभ्रु, वैश्वदेव, अग्निहोत्र और अतिथि नामक पंचमहायज्ञ तैत्त्यप्रति करता रहे। रीति के अनुकूल प्रस्ताव पुस्तपाल के स्वामीय बोंडे के पास भेज दिया गया जिसने निम्नलिखित आदेश दिया "ऐसी घट्टी में अवस्थित भूमि दान दी जा सकती है जिसमें पहिले से बसे किसानों की खेती में कोई बाधा न पड़े (कुटुम्बीना कणेशविरोधीस्थाने)।

शिलालेखों से निम्नलिखित अधिकारियों का पता चलता है : (१) सुरविमचन्द्र, जो कालिन्दी और नर्मदा के मध्यवर्ती प्रदेश में शासन करता था, (२) सामन्त और परिचायक महाराज हस्ति, जो स्वयं स्वामीय राजाओं का प्रान्तीय स्वामी था और जिसके प्रति वे आदर-सत्कार प्रकट करते राज्यपाल थे (भादपिण्डोपजीविनः), (३) पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का उपरिक्त महाराज जयदत्त, (४) उपरिक्त महाराज बह्मदत्त। उपरोक्त पहाड़पुर के शिलालेख में निम्नलिखित प्रशासकीय इकाइयों का उल्लेख है : (१) ग्राम, (२) पार्श्व, (३) मण्डल और (४) बोबो।

नरसिंहगुप्त बालादित्य (४१५ ई० लगभग ५१०)

उसका नाम सोने की मूद्राओं पर अंकित है। शिलालेखों से गुप्त-साम्राज्य पर हूणों के कमिक आक्रमणों का पता चलता है। ४८४ ई० तक मालवा पर जो गुप्त-साम्राज्य का भाग था, सातुविष्णु और बाद में उसका भाई धन्यविष्णु शासन कर रहे थे। किन्तु ५१० ई० में धन्यविष्णु ने हूण नरपति तौरमाण का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया जैसा कि ५१० ई० के एरण के शिलालेख से सात होता है।

धन्यविष्णु ने वाराह अवतार का मन्दिर बनवाया जिसमें विष्णु की पृथ्वी (भारतमाता ?) की प्रलय (हूण आक्रमण ?) से उद्धार करते दिखाया गया है।

५१० ई० के एरण से प्राप्त एक शिलालेख में उसका वर्णन एक वीर राजा (प्रवीर) के रूप में किया गया है। उसका आज्ञाकारी सेनानी गौपराज मालवीय के हूण तौरमाण के साथ लड़ता हुआ वीरगति प्राप्त हुआ और उसकी पत्नी उसके साथ सती हो गई।

इस विजय से तो रमाण ने मगध तक का प्रदेश आक्रान्त कर दिया। बालादित्य हड़ता हुआ मगध चला गया था और तौरमाण ने उसके पुत्र प्रकटादित्य को वाराणसी में राजसिंहासन पर बैठाया था। वहीं उसकी मृत्यु

हो गई थी।

चीनी यात्री ह्वान-चाङ ने एक परम्परा का उल्लेख किया है। जिससे गुप्त-हूण संघर्ष के अस्पष्ट कथानक पर प्रकाश पड़ता है। हूण नरपति तोरमाण के बाद मिहिरकुल को जो शिव का भक्त था और जिसने बौद्धों पर अत्याचार किये थे, मगध के बालादित्य और मालवा के जनेन्द्र मशोधर्मा ने मिल कर परास्त किया। मिहिरकुल को बालादित्य ने बन्दी बनाया और बाद में मुक्त कर दिया। कश्मीर जाकर उसका निधन हुआ।

इसी बीच में जनेन्द्र त्रिगुणधर्मेन मशोधर्मा ने अपनी विजयों के फलस्वरूप एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो ब्रह्मपुत्र से पश्चिमी समुद्र तक और हिमालय से महेन्द्रगिरि तक फैला था। मशोधर्मा ने मिहिरकुल को अपने चरणों में प्रणाम करने पर विवश किया। मन्दसौर में उसके दो लेख (जिनमें से दूसरा मालवसंवत् ५८९=५३३ ई० का है) उसके इन कृत्यों का गुणगान करते हैं जिनके फल-स्वरूप उसने प्राची (पूर्वी भारत) और उत्तरीप्रदेश पर अपना साम्राज्य स्थापित किया।

गुप्तगुप्त और हूण-संघर्ष के बाद गुप्त-साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। इसके बाद स्थानीय राजाओं का अभ्युदय हुआ। इनमें एक वैज्यगुप्त था जिसका पता कुमिल्ला से प्राप्त एक ताम्रपट्ट लेख से चलता है। इसमें स्थानीय राजा समलट की उत्तरमण्डल भुक्ति और उसके बहुत-से विषयों के राज्यपाल विजयसेन का उल्लेख है। इसमें उसे शैव बताया गया है किन्तु उसने महायान बौद्ध संघ की एक अवधारणा मान ली।

धामोदरपुर ताम्रपट्ट (सं० ५) में, जिसकी तिथि २१४ (५३३ ई०) अथवा २२४ (५४३ ई०) है और जिस पर अक्षर 'कु' सुदा है, राजा को परम-कुमारगुप्त देवत-नरममट्टारक-महाराजाधिराज-पूज्यपति कहा गया है और उसे सम्राट्-पद से अलंकृत किया गया है। किन्तु उसके विषय में तथ्यों का पता नहीं चलता।

शिलालेखों से पुण्ड्रवर्धन भुक्ति नामक महत्वपूर्ण प्रान्त के प्रशासन-संघ का वर्णन मिलता है। यह एक सम्राट् द्वारा नियुक्त राज्यपाल के अधीन था और उसके पास गज, अश्व और पदाति रूढ़ी तीनों अंगों से सुसज्जित सेना थी। इसमें कोटिवर्ष नामक महत्वपूर्ण विषय था जिसका अधिकारी स्वयम्भूदेव था और जो उपरोक्त चार सदस्यों की सामान्य नगर-सरकारी समिति की सहायता से कार्य करता था। इसमें भगवान् श्वेतवाराह स्वामी का मन्दिर था। इनके नाम दान की हुई भूमि थी जिससे

इसकी टूट-फूट (खण्ड-फट्ट) की मरम्मत की जा सके और इसमें घूप-दीप, पुष्पो-पहार आदि पूजा के उपाधान प्रस्तुत किए जा सकें। यह भूमि का अनुदान पाँच ग्रामों से ली गई भूमि की पट्टियों को मिलाकर बना था। इन पट्टियों में कुछ बंजर भूमि (जिल) थी और कुछ आबादी की (वास्तु) थी। यह प्रचलित मूल्य पर अग्रदाधर्मेण (सदा के लिए) दान की गई थी।

बर्दवान के धान मालगो, मल्लसकुल और फरीदपुर से प्राप्त दो ताम्रपट्ट-लेखों से उसका पता चलता है। इससे उसके राज्य की सीमाओं का भी ज्ञान होता है। पहिले लेख में राजा को महाराजाधिराज-अप्रतिरथ-
गोपचन्द्र मद्भारक बताया गया है। इसमें उसके एक भ्रातृ गव्यावका-
 शिक का जिक्र है जो तामदेव नामक राज्यपाल (उपरिक) के अधीन था। इसका एक विषय (जिला) वारकमण्डल था।

मल्लसकुल शिलालेख में वर्धमान भुक्ति तामक एक दूसरे भ्रातृ का जिक्र है। इसका प्रशासन उपरिक कुमारामात्य, चौरोंदरणिग (पुलिस के सिपाही) तदायुस्तक (खजाने के अधिकारी), हिरण्यसामुदायिक (स्वर्ण-मुद्रा-कोश) के अधिकारी और जलस्थानिक (रेखम के उद्योगों के अधिकारी) और आत्सविक (धर्मशालाओं के अधिकारी) चलाते थे। इस शिलालेख में अन्य छोटे और स्थानीय प्रशासकीय विभागों का उल्लेख है जो अपने-अपने व्यक्तियों के अधीन थे, जैसा कि भोगपति (विधिजन के कमिशनर), विषयपति (जिले के कलेक्टर), (३) पट्टलक (नगर के अधिकारी अथवा सिटी मैजिस्ट्रेट) आदि शब्दों से ज्ञात होता है। चौथी नामक एक उपविभाग (तहसील), परगना आदि का भी इसमें उल्लेख है।

मल्लसकुल अभिलेख से ज्ञात होता है कि महाराज विजयसेन वर्धमान भुक्ति का एक स्वतंत्र नरपति था। उसने एक ब्राह्मण को दैनिक पंचमहायज्ञ करने के निमित्त भूमि दान की थी। विजयसेन शैव था किन्तु बौद्ध-
विजयसेन भिक्षुओं का आदर करता था। उसकी मुद्राओं पर चक्रवारी विष्णु का आकार अंकित है।

फरीदपुर से प्राप्त दो शिलालेखों में धर्मादित्य को महाराजाधिराज परम-मद्भारक-अप्रतिरथ कहा गया है। उसने तामदेव को गव्यावकाशिक भुक्ति का उपरिक (राज्यपाल) नियुक्त किया। इस भुक्ति में वराक-
धर्मादित्य मण्डल (गोंजालन्दा और गोंपालमंज) गोपालस्वामी विषय-पति के अधीन एक जिला था। इस जिले में राज्यपाल स्वामु-दत्त द्वारा नियुक्त विषयपति अज्ञात भी कार्य करता था। इन अभिलेखों में साधनिक नामक अधिकारी का उल्लेख है जो संभवतः साधनों (उपायों) का

प्रबन्ध करता था। यह शिलालेख समुद्रतट पर प्रचलित मूल्य के अनुसार भूमि के विक्रय की सूचना देता है। यह भूमि कृष्ट (बाग) थी, बंजर (खिल) या बिना टूटी (अग्रहत) नहीं थी।

मुद्रहटी (फरीदपुर) के एक शिलालेख में उसे महाराजाधिराज कहा गया है। उसकी मुद्राओं पर सीधे ओर समाचार लेख मिलता है और उल्टी ओर नरेन्द्रविराट विषय उपलब्ध है। मनोरंजन-वात यह समाचारदेय है कि उसने अपनी मुद्राओं के लिए वृषभ-प्रतीक अपनाया जो बाद में गौड़ के शैव राजा शशांक के प्रतीक के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

गुप्तकालीन भारत

गुप्त साम्राज्य ने उत्तरी भारत की एकता स्थापित की और राष्ट्रीयता का भाव जन्मत किया जो सिंहल और अन्य द्वीप जैसे सुदूर देशों में समुद्री यात्राओं राजनीतिक और औपनिवेशिक प्रसार में परिणत हुआ, वैसे कि समुद्रगुप्त स्वल्प में स्वयं कहा है। गुप्त-राजाओं के समुद्र-यार के देशों से संबंधों की चर्चा की जा चुकी है। हमने अनेक बौद्ध धर्म के केन्द्रों का भी उल्लेख किया है जिन्हें खोतान, काशगर और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में भारत के बाहर प्रा-ध्यान ने देखा था।

ब्राह्मण धर्म वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अपने सभी रूपों में प्रलंबित था। इस उदार धार्मिक दृष्टिकोण के युग में बौद्ध और जैनधर्म भी विकसित धर्म हो रहे थे। इन सब धर्मों को उनके भक्त दान और अग्रहारों से उदारतापूर्वक प्रोत्साहन देते थे।

वैदिक धर्म अश्वमेध, राजपेग अथवा पंचमहायज्ञ आदि प्रमुख यज्ञों के सम्पादन द्वारा सुरक्षित था।

वैष्णवधर्म गुप्त सम्राटों का राजकीय धर्म था। उनकी मुद्राओं पर गरुड़ और लक्ष्मी की आकृतियाँ अंकित थीं और वे अपने आप को परमभागवत कहते थे। विष्णु के अनेक मन्दिर थे जिनमें वह अपने विविध रूपों—चक्रभूत, वराहावतार अथवा अनन्तशयन—में प्रतिष्ठित था। देहली का लोहस्तम्भ विष्णुध्वज है। ४०१ ई० की उदयगिरि की गुहा में चतुर्भुज विष्णु और द्वादशभुजा लक्ष्मी की मूर्तियाँ मिलती हैं।

शैवों के अपने मन्दिर थे जिनमें शिव अपने विविध नामों—रघुपति, राम्भू और अर्धनारीश्वर—में पूजे जाते थे। एक लोकप्रिय शैव सम्प्रदाय माहेश्वर कहलाता था।

शक्ति की उपासना का साक्ष्य उसके विभिन्न नामों और रूपों—काली, गौरी,

कात्यायनी, पार्वती-से संबंधित मन्दिरों से मिलता है। सप्तदेव मातृकाओं और उनसे संबंधित ढाकिनियों के भी मन्दिर थे। महिषासुर मर्दिनी और देवी भद्राद्या के मन्दिर भी विद्यमान थे। उदयगिरि की एक गुहा में गंगा और यमुना और उनके वाहन शकर और कूर्म की मूर्तियाँ मिलती हैं।

दो गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त स्वामी कातिकेय के नाम पर अभिहित थे। यह युद्ध का देवता था जो विजयों की प्राप्ति कराता था। एक मन्दिर में स्वामी महासेन और ब्रह्मण्य के नाम से उसकी पूजा होती थी।

जैसा कि दशपुर और अन्तर्वेदी के मन्दिरों से पता चलता है। सूर्य की पूजा भी प्रचलित थी।

शिलालेखों से कुबेर, वरुण, यम और इन्द्र जैसे गौण देवताओं की उपासना का साक्ष्य भी मिलता है।

बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र साँची का काकनादबोट विहार था जिसे काफी अनुमान मिले थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कुमारगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में सारनाथ में तीन कलापूर्ण बुद्ध प्रतिमाएँ स्थापित की गई थीं।

जहाँ तक जैनधर्म का प्रश्न है कुमारगुप्त प्रथम के काल में उदयगिरि की एक गुहा में पार्श्व की एक मूर्ति स्थापित की गई थी। स्कन्दगुप्त के काल में एक स्तम्भ के कोनों में पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थीं और उनके निमित्त अनुदान दिये गये थे। गुरुओं की प्रतिमाएँ गुर्वायतनों में स्थापित की जाती थीं और धर्मग्रन्थ भी उपासना के लिए मन्दिरों में प्रतिष्ठित किये जाते थे।

वैयक्तिक परोपकारभावना से अनुप्रेरित विविध प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से लोक-मंगल का कार्य होता था। इनका अंशों देखा हाल चीनी यात्री

फा-ह्यान के यात्रा विवरण में मिलता है। उसने धर्मशालाएँ

जन-कल्याण देखी थी जहाँ यात्रियों को निशुल्क भोजन, वसन और पान

पान मिलता था। उसने चिकित्सालयों का भी उल्लेख किया

है जहाँ चिकित्सक, रोगियों की औषधि और उनके खान-पान का प्रबन्ध होता था।

शिलालेखों में शिक्षकों को आचार्य और उपाध्याय और विद्यार्थियों को शिष्य और ब्रह्मचारी कहा गया है। विद्यार्थी वेदों की विभिन्न शाखाओं के अनुसार

शाखाओं और चरणों में वर्गीकृत होते थे। अध्ययन के विषयों

शिक्षा में चार वेद, छः वेदांग, पुराण, मौमांसा, न्याय, धर्म (कानून)

और शालानुरीय नामक पाणिनि के व्याकरण के उल्लेख

मिलते हैं। महाभारत, जिसे शतसाहस्री संहिता भी कहते थे, पृथिविष्ठिर, विदुर, उदय आदि अपने प्रधान पात्रों सहित लोकविश्रुत था।

मौलिक शिक्षण की पद्धति पर आधारित शिक्षा की व्यवस्था शताब्दियों तक चलती रही। का-ह्यान ने लिखा है: "विद्यार्थियों को अध्यापक के शब्द सुनने, समझने और सोचने पड़ते थे। ये पद्धतियाँ उपनिषदों में वर्णित मौलिक शिक्षा ध्वज, मनन और निदिध्यासन के अनुरूप थीं। का-ह्यान भारत में बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का संग्रह करने आया था किन्तु यहाँ आकर उसने देखा कि वे एक अध्यापक से दूसरे के पास मौलिक शिक्षण द्वारा संक्रान्त होते रहते थे। फलतः उसे शायद ही कोई लिखित ग्रन्थ मिला हो जिसकी वह नकल कर सकता हो। केवल एक स्थान पाटलिपुत्र के एक विहार में उसे विनय, दो सूत्रों और अभिधम्म के अंशों की पाण्डुलिपियाँ मिलीं और उसे पहिले संस्कृत बोलने और लिखने के लिए तीन वर्ष ठहरना पड़ा, तब वह उनकी नकल कर सका।

शिलालेखों की भाषा संस्कृत थी और उस युग की दैनिक व्यवहार की माध्यम भी रहती थी। राजा स्वयं उसे पढ़ते थे और उसे आश्रय और प्रोत्साहन प्रदान करते थे। समुद्रगुप्त को कविराज की उपाधि प्राप्त थी। वह वेद और शास्त्रों में पारंगत था। मनी और सामन्तों में शब्दार्थ व्याप और लोकनौति के परिचित शब्द बोरसेन और विप्रधि नाम से प्रसिद्ध मातृविष्णु जैसे संस्कृतज्ञ थे।

कला धर्म की पूरक थी। धर्म इसके रूप, भाषा और विकास का नियंत्रक था। शिवपूजा तत्संबंधी मन्दिरों द्वारा व्यक्त होती है। शांसी के निकट देवगढ़ का मन्दिर जहाँ शिव को योगी के रूप में प्रस्तुत किया गया कला और है एक अद्भुत कलाकृति है। कोसम में ४५८ ई० का एक मूर्ति-वास्तु-शिल्प फलक है जिस पर शिव और पार्वती अंकित है। अजमेर में कमल नामक स्थान पर अच्छी शैवमूर्ति मिलती है और खोह तथा भूमरा के एकमुखालि प्रसिद्ध ही हैं। कामपुर में भीतरगाँव छठी शती के मन्दिर में पत्नी मिट्टी के सुन्दर फलों पर शैव आकृतियों और विषय अंकित हैं।

जहाँ तक कला में वैष्णव प्रभाव का प्रश्न है हम निम्नलिखित उदाहरण दे सकते हैं:—(१) उदयगिरि के मन्दिर में विष्णु का बराह रूप में चित्रण जो प्राकृतिक शक्ति का निदर्शन है, (२) पयरी के मन्दिर की छुदाई में बालकृष्ण और उनकी माता का कलापूर्ण उत्खनन, (३) शांसी में ललितपुर के मन्दिर में ध्यान मुद्रा में अनन्त पर स्थित कृष्ण का प्रदर्शन, (४) मण्डौर में चौथी शती ई० की मूर्तियों और शिल्प में कृष्ण-संबंधी दृश्यों का चित्रण।

भूमरा के मन्दिर में सूर्य की एक मूर्ति मिलती है।

बौद्धधर्म ने बुद्ध और मीमेय और अवलोकितेश्वर जैसे बोधिसत्त्वों की कलापूर्ण प्रतिमाओं के निर्माण को प्रेरणा दी और बुद्ध के जीवन की घटनाओं के प्रदर्शन

और वैश्रवण, वसुधारा, तारा और मारीचि आदि अवोद्ध देवी देवताओं के अंकन तथा चित्रण को प्रोत्साहित किया।

तात्कालिक कला में (१) मथुरा, (२) वाराणसी और (३) पाटलिपुत्र की तीन शैलियाँ मिलती हैं। मथुरा शैली में करी के लाल पत्थर का उपयोग हुआ है। यहाँ विविध रूपों में बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं में यूनानी-बौद्ध कला के विदेशी तत्व पाये जाते हैं। वाराणसी की शैली अधिक विभूत थी यद्यपि यहाँ भी फलकों पर अंकित बुद्ध के जीवन की घटनाओं के चित्रण में गन्धार कला का प्रभाव दिखाई देता है। पाटलिपुत्र शैली ने धातु की प्रतिमाओं के निर्माण में विशेषता प्राप्त की थी। नालन्दा और कुकिहार में काँसे की बुद्ध प्रतिमाएँ पूर्णता के आदर्श को छू चुकी थीं, जैसा कि पटना के संग्रहालय में दिखाई देता है।

इसके अनेक चरण हैं। यह पहिले पत्र-कुत्र अथवा नरसलों की झोपड़ी की तरह मूलरहित था जैसा कि भरहुत और साँची की कला से प्रतीत होता है। फिर शान्ति में मनन की आवश्यकता प्रतीत हुई। ईंट और लकड़ी मन्दिर स्थापत्य की कोठरी या गर्भगृह में, जहाँ एक झरोखे से ही रौशनी आती थी और उपासकों के मनन में बाधा नहीं डालती थी, शान्ति का स्थान बनाया जाने लगा। इसकी दीवारें कलाकृतियों से अलंकृत नहीं थीं। किन्तु वह कन्धन बाहरी दीवारों पर लामू नहीं होता था। मन्दिर का बाह्य भाग, द्वार-तोरण, दहलीज और स्तम्भ मन्दिर स्थापत्य की आवश्यकताएँ बन गई थीं। स्तम्भ के माण-तला, दण्ड, ऊर्ध्व और शीर्ष—कलाकारों को आकृष्ट करने लगे थे। द्वार का बाहरी भाग गंगा और यमुना जैसी नदियों की आकृतियों से सुसज्जित होता था जैसा कि तिगवा के मन्दिर से प्रतीत होता है। बाद में मन्दिर में परिष्कार पाया जाते लगे, जैसा कि भूमरा और नचना के मन्दिरों में मिलता है। इसमें अलंकृत छतें, पैर-गवास और पदक मिलते हैं जिन पर वृषभारोही शिव, गणेश अथवा कार्तिकेय की आकृतियाँ अंकित हैं। देवगढ़ में मन्दिर पूर्ण विकसित रूप में मिलता है। इसके चारों तरफ चार बरामदे हैं जो चार-चार खंभों की शक्तिशाली पर स्थित हैं। मन्दिर के गर्भगृह के ऊपर एक भित्ति है जो कमरा-पतला होता एक चोटी में परिणत हो जाता है।

गुप्त स्थापत्य में वृक्ष-स्तम्भ भी मिलते हैं जैसे एकान्त में स्थित देहली का सोहस्तम्भ अथवा ४८४ ई० का एरण का पाषाणस्तम्भ।

समाज वर्णाश्रमधर्म से नियंत्रित था, जिसकी शक्तियाँ शिलालेखों में मिलती हैं। अनुज्ज्वलियाँ विवाहों द्वारा जातीय सम्मिश्रण वर्ण-संकर के नाम से गृहित था। ब्राह्मण तप, स्वाध्याय (वैदिक अध्ययन), संन, सूत्र, भाष्य और प्रवचनों के

समाज

अध्ययन में रत रहते थे और जीवन और चिन्तन के उच्चतम आदर्शों के प्रतीक थे। उन्हें योगी कहते थे और वे सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति के लिए एकाग्र चिन्तन में निमग्न (ध्यान-एकाग्र-पर) रहते थे। बहुत-से मुनि होते थे जो तीव्र तपस्या द्वारा तपोधन का संन्यस करके थे। यही उनका कोष था। शिलालेखों में ब्राह्मणों के धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के निमित्त दिये गये भूमि के अनुदानों और अग्रहारों की भरमार है।

तात्कालिक कृषि का लक्षण घनी खेती था जिससे कोई भूमि बिना टूटी (अप्र-हृत) नहीं बची थी। शिलालेखों से पता चलता है कि अनुदान के लिए एक ही स्थान पर पर्याप्त भूमि मिलना कठिन था। विभिन्न क्षेत्रों और आधिक जीवन ग्रामों से भूमि के टुकड़े जोड़-जाड़कर अनुदान को पूरा किया जाता था।

आधिक जीवन श्रेणी अथवा निगमों द्वारा संचालित था। श्रेष्ठी-साहूकारों की अपनी श्रेणियाँ थीं। इसी प्रकार कुलिकों (कारीगरों) और सार्ववाहों (व्यापारियों) की श्रेणियाँ थीं। श्रेणियों के संघ भी होते थे जैसा कि श्रेष्ठी-निगम श्रेष्ठीकुलिकनिगम अथवा श्रेष्ठीसार्ववाह कुलिक निगम आदि से प्रतीत होता था जो वैशाली से प्राप्त मुद्राओं पर लिखे मिलते हैं। जैसा कि जूल ब्लोख ने लिखा है, ये संस्थाएँ आधुनिक व्यापार-मण्डल (चेम्बर ऑफ कॉमर्स) का कार्य करती थीं।

हम देख चुके हैं कि ये निगम बैंकों का कार्य करते थे। इनमें धन और गोबी जमा कर दी जाती थी जिन्हें वे न्यास के रूप में सुरक्षित रखते थे और वैयक्तिक बैंक परीपकार वृत्ति को प्रोत्साहन देते थे।

शिलालेखों में वापी (कुबे), तटाक (तालाब), मन्दिर (सुरसभ-सभा), जलाशय (उदयान), उपवन, झील (दीघिका), देवप्रासाद (देवकुल), मन्दिरों के प्रकोष्ठ (देवसभा), विहार, और विमानमाला (कई जन-हित-कार्य मठों की प्रासाद-मालाओं) जैसे सार्वजनिक स्थानों का वर्णन मिलता है।

नृपति राज्य का प्रचालन होता था। शिलालेखों प्रधान में सम्राट को महाराजा-प्रशासन पिराज, एकाधिराज अथवा चक्रवर्ती कहा गया है।

राज-प्रासाद के कर्मचारी महाप्रतीहार के अधीन थे।

राष्ट्र, देश, पृथ्वी अथवा ज्वनि से राज्य का बोध होता था। प्रान्त नृक्ति अथवा प्रदेश कहलाते थे। नृक्ति से नीचे (१) भोग (दिवीजन), (२)

विषय (जिले), (४) बीपी (तहसील, परगना) और इनके नीचे (५) मण्डल इकाइयाँ (ग्राम-समूह), (६) पेटक, (७) पार्श्व, (८) ग्राम, (९) पत्त, और (१०) अग्रहार होते थे।

राज्यपाल गोप्ता, उपरिक्त महाराज अथवा राजस्थानीय कहलाता था। अन्य उच्चाधिकारी महादण्डनायक (चीफ जस्टिस), बलाधिकरणिक (सेनापति), वित्त-स्थितिस्थापक (जान्ति और व्यवस्था का मंत्री), दण्डपालाधिकरणिक (पुलिस का मुख्य), चौरोंद्वरणिक (गुप्तचर-विभाग का अध्यक्ष) और महा-क्षपटलिक (प्रधान आय-व्यय-निरीक्षक) होते थे।

जिले का अध्यक्ष विषयपति होता था। उसके कर्मचारियों में (१) दीर्घिक (कर वसूल करने वाला), (२) गौलिमक (स्थानीय फौज अथवा जंगलों का अधिकारी), (३) पुस्तपाल (महाकिञ्च दफ्तर), (४) करणिक (दस्तावेजों का संरक्षक) और लेखक (कातिब) प्रमुख होते थे। एक चार सदस्यों की गैरसरकारी समिति विषयपति की सहायता करती थी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

नगर का मेयर या मजिस्ट्रेट पुरपाल अथवा नगराध्यक्ष कहलाता था। नगर-पालिकाओं का मंत्री पुरपाल-उपरिक्त होता था।

इनका उल्लेख शिलालेखों में भूमि के अनुदान और उनसे संबंधित माफियों के वर्णन में मिलता है। ग्राम्य करों में निम्नलिखित देयों की गणना इस प्रकार है :

(१) कर (टैक्स), (२) प्रणय (ग्रामवासियों पर लगाया कर और आय सभा अनिवार्य या स्वेच्छ चन्दा), (३) विष्टि (वेगार), के साधन (४) पुष्प (फूल) और धीर (द्रव्य) से आय, (५) द्रव्य के लिए गो और यातायात के लिए बैल (बलीवर्द) देना, (६) चर्मागारक (चमड़ा और कौयला), (७) चारासन (चरागाहों का शुल्क), (८) लवण (नमक), किलय (तेल)-किण्व (औषध) -वातक (खान) की आय, (९) बाहन (मुफ्त भार का लाभा-लेजाना), (१०) भट (पुलिस), चाट (लुटेरों) द्वारा अप्रवेक्ष्य (पीडन से मुक्ति), (११) दस प्रकार के अपराधों (दशा-पराध) पर किये गए जुर्माने, (१२) भोग (आयकर), और (१३) भाग (उपज का राजकीय अंश)।

वाकाटक-वंश (लगभग २५०-५०० ई०)

यह एक शक्तिशाली स्थानीय वंश था जिसका गुप्त साम्राज्य से सम्पर्क और संघर्ष था। समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति से पता चलता है कि समुद्रगुप्त ने आर्धावर्त के राजा रुद्रदेव को परास्त किया था जिसकी पहचान वाकाटकनरेश रुद्रसेन प्रथम (३४४-३४८ ई०) से की जाती है। इस शिलालेख में व्याघराज का भी

उल्लेख है जो वाकाटक नरपति पृथ्वीयेण प्रथम (३४८-३७५ ई०) का सामन्त व्याघ्र प्रतीत होता है। पृथ्वीयेण प्रथम ने अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह सम्राट् क्षत्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता से किया था। वह बुन्देलखण्ड से कुन्तल तक के प्रदेश पर राज्य करता था और शिलालेखों में कुन्तलेश्वर नाम से प्रसिद्ध था। मौराशि के मतानुसार कुन्तलेश्वर से अग्निप्राय मानपुर के राष्ट्रकूट वंश के संस्थापक मानांक के पुत्र देवराज से है।

यह वंश सम्भवतः दो शाखाओं में विभक्त था—उत्तरी शाखा जिसका सम्बन्ध पृथ्वीयेण प्रथम और रुद्रसेन द्वितीय से था और वत्सगुप्त शाखा जिसके अन्तिम राजा हरियेण ने ५०० ई० के लगभग एक विस्तृत प्रदेश पर विजय प्राप्त की।

रुद्रसेन द्वितीय का उत्तराधिकारी प्रवरसेन द्वितीय था जिसके राज्य में अमरावती, वर्धा, नागपुर आदि प्रदेश सम्मिलित थे जहाँ उसने भूमि के अनुदान दिये। दूसरी शाखा के हरियेण ने विस्तृत प्रदेश को जीता जिसमें (१) कुन्तल (कन्नड़-देश जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी), (२) अवन्ति, (३) कालिंग, (४) दक्षिण-कोसल, (५) त्रिकूट (अपरान्त अथवा नासिक के पश्चिम का उत्तरी कोण), (६) लाट (मध्य और दक्षिणी गुजरात) और (७) आन्ध्र (गोदावरी के दक्षिण का भाग) सामिल थे (अजन्ता गुहा १६ का शिलालेख)।

गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त तीन प्रमुख स्थानीय राज्यों का अभ्युदय हुआ : (१) मालवा के गुप्त, (२) कान्यकुब्ज के मौखरी स्थानीय राज्य और (३) बलभी के मौरा।

मालवे के गुप्त राजाओं का पता बहुत-से शिलालेखों से चलता है जिनमें मौखरियों के साथ उनके संपर्क की चर्चा है जो सावंन्धीय प्रभुत्व के लिए प्रयत्न कर रहे थे। मौखरी राजा ईश्वरवर्मा को धारा, विन्ध्य और खैतक (मिरनार) तक के प्रदेश की विजय का श्रेय दिया जाता है। उनके पुत्र ईशान वर्मा ने आन्ध्र, शूलिक (कालिंग के निकट), गौड और मालव राजा कुमारगुप्त को परास्त किया। उसके पुत्र सार्वभर्मा ने एक अन्य मालवे के राजा दामोदर गुप्त को पराजित किया। किन्तु मालव राजा महामेन गुप्त ने मौखरी नरपति सुस्थितवर्मा को हराकर बदला लिया।

इसके बाद गुप्त और मौखरी द्वय के सम्पर्क में आये और उसके साम्राज्य में विलीन हो गए।

बलभी में सेनापति भटार्क द्वारा संस्थापित एक तीसरा स्थानीय राज्य था। भटार्क के बाद वरसेन प्रथम, द्रोणसिंह (उसका भाई), ध्रुवसेन प्रथम और चारुपट्ट मही पर आए। इस वंश का एक प्रसिद्ध राजा ध्रुवभट्ट द्वितीय था जिसके साथ बलभी के आक्रमण के पश्चात् द्वय ने अपनी कन्या का विवाह किया था। वह

सम्भवतः मौला-यो (मालव) का राजा था जिसे श्वान-चाड ने कान्यकुब्ज के राजा शिलादित्य का वामाद बताया है । ऐसी दशा में उसने मालवा पर विजय प्राप्त की । ६४९ ई० के एक शिलालेख में उसके पुत्र घरसेन चतुर्थ ने अपने आपको चक्रवर्ती बताया है जिसका सभाकवि भट्टि था । बलभी का अन्तिम राजा ७६६ ई० का शिलादित्य सप्तम था ।

हर्ष का साम्राज्य

हर्ष का इतिहास अंशतः बाण के हर्षचरित् और चीनी विद्वान् ह्वान-चाङ् के यात्रा-विवरण में मिलता है। शिलालेख और मुद्राएँ भी इस पर कुछ प्रकाश साधन डालती हैं।

हर्ष के वंश का संस्थापक पुण्यभूति शैव और तान्त्रिक था।

पूर्वज

प्रभाकर ने अगनी विजयों से प्रतापशील की उपाधि प्राप्त की थी। बाण के अनुसार वह हूणों के लिए आतंक था और उसकी शक्ति और प्रभाव गुजरात, मालवा, लाट और सुदूर गन्धार तक फैल गया था। अतः मधुवन-ताम्रपट्टलेख में उसे महाराजाधिराज कहा गया है।

प्रभाकर के राज्य और हर्ष दो पुत्र और राज्यश्री नाम की एक पुत्री थी। मालवा के दो राजकुमार कुमारगुप्त और माधवगुप्त राज्यसभा में दोनों राजकुमारों के सहस्रों के रूप में रहते थे। राज्यश्री का विवाह मौलरी राजकुमार मूहवर्मा से हुआ था।

इस समय हूणों ने राज्य की शान्ति को भंग कर दिया और उसके उत्तरी भाग पर छा गये। इस संकट का सामना करने के लिए राज्य को, जो केवल १८ वर्ष का नवयुवक था, सेना और सामन्तों के साथ भेजा गया। हर्ष भी, जो केवल १५ वर्ष की आयु का था, एक अश्वसेना लेकर पहाड़ की तलहटी में शिकार खेलने

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

हयं पे हस्तधर

के लिए उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

जब दोनों लड़के दूर थे, राजा को भयंकर रोग लग गया जिसकी सूचना शिकार में रत हर्ष को कुजरंग नामक पत्रवाहक ने दी। हर्ष तुरन्त घर लौटा किन्तु अपने पिता को जीवित न देख सका। उसकी माता मयो-राजा की मृत्यु बती अपने पति के साथ सती हो गई। उसने तुरन्त तेज अँटों के सवारों को अपने भाई को बुलाने भेज दिया।

राज्य, जिसके शरीर पर धाव थी, राजधानी लौटा और अपने भाई को राज्य देने का विचार करने लगा किन्तु हर्ष ने यह बात अस्वीकार राज्यवर्धन कर दी।

का अभिषेक

दुर्भाग्यवश एक पत्रवाहक यह सूचना लाया कि मालवा के राजा देवगुप्त ने राज्यश्री के पति गृहवर्मा को मार कर उसे बन्दी बना लिया है। राज्य तुरन्त राज्यश्री का १०,००० अश्वसेना लेकर भण्डों के साथ शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने के लिए चल पड़ा।

बहुत दौघ राज्य की अश्वसेना के अध्यक्ष कुन्तल ने हर्ष को यह दुखद सूचना दी कि राज्य के मत में, जिसने सरलता से मालव सेना पर विजय प्राप्त कर ली थी, गौड़ के राजा ने, जो मालवा के राजा से मिला हुआ था, मिथ्या उपचारों से विश्वास उत्पन्न कर दिया और अपने भवन में उस विश्वासी, एकाकी, शस्त्रहीन का वध कर दिया। यह गौड़ का राजा शशांक के अतिरिक्त और कोई नहीं था। एक अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है। "राज्य ने युद्ध में देवगुप्त और अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त किया और शत्रु के मकान में उनके वचनों में विश्वास करके (सत्यानुरोध ने) अपने प्राण दे दिये।" इस प्रकार राज्य के काल में कन्नौज के विरुद्ध मालव और गौड़ ने मिलकर पड़पड़ रचा।

हर्ष को अब स्वयं संकट का सामना करना पड़ा और 'आपत्तियों के समुद्र के विरुद्ध शस्त्र उठाने पड़े।' मन्त्रिपरिषद् ने उसे राज्यसिंहासन के लिए सिम्रित किया और छोटे-छोटे विद्रोही राज्यों को एक एक करके परास्त बहन का उद्धार करने के स्वान पर दिग्विजय का परामर्श दिया। मुख्यमंत्री अवन्ति की घोषणा के अनुसार वह हस्ति-सेना के अध्यक्ष स्कन्द-गुप्त और सामन्तों तथा राजाओं के साथ इस कार्यक्रम के लिए चल पड़ा। मार्ग में उसे कामरूप के राजा भास्करवर्मा ने सहायता का वचन दिया। इसके बाद उसे अग्नि मिला जिसने सूचना दी कि उसकी बहन राज्यश्री बन्दीगृह से मुक्त

होकर विन्ध्याटवी में चली गई है। वह अपनी बहिन की खोज में चल पड़ा और जब वह अग्नि द्वारा अपना प्राणान्त करने को उद्यत हो उसने ठीक समय पर पहुँच कर उसे रोक दिया और उसकी रक्षा की।

परलू कष्ट से मुक्त होकर हर्ष ने दिग्विजय के कार्यक्रम का धीगणेश किया। वह ५००० हाथी, २०,००० घोड़ों और ५०,००० पदातियों की सेना लेकर, जैसा कि वाण ने लिखा है दिग्विजय के लिए चला। श्वान-चाङ्ग दिग्विजय ने लिखा है कि पहिले उसने पूर्व की ओर प्रस्थान किया और उन राज्यों को परास्त किया जिन्होंने उसका विरोध किया। छः वर्ष तक निरन्तर युद्ध करने के पश्चात् उसने भारत के पाँचों भागों को अपने अधीन किया। ये पाँच भाग स्वराष्ट्र (पंजाब), कान्यकुब्ज, गौड, मिथिला और ओड़ीसा थे। वाण ने इस विजय-तालिका में सिन्ध, हिम-प्रदेश (सम्भवतः नेपाल) और नेपाल को भी सम्मिलित किया है। बलभी का राज्य इस समय मालवा, कच्छ और सौराष्ट्र तक फैला हुआ था।

उसकी दिग्विजय का कार्यक्रम विन्ध्यप्रदेश में रेवा के तट पर पूर्णरूप से रुक गया जब दक्षिण के नरपति पुलकेशी द्वितीय ने, जिसे शिलालेखों में परमेश्वर की पुलकेशी द्वारा सार्वभौमिक उपाधि से अलंकृत किया गया है, उसे परास्त रोक दिया। पुलकेशी को सकलोत्तरापधनाथ हर्षवर्धन का विजेता कहा गया है।

हर्ष ने ३० वर्ष तक उत्तरी भारत में बिना शस्त्र उठाए शान्तिपूर्वक राज्य किया जैसा कि श्वान-चाङ्ग ने लिखा है। उसने अपनी समृद्ध सैनिक शक्ति के कारण शान्ति स्थापित की। श्वान-चाङ्ग ने उसकी सेना का अनुमान ६०,००० हाथी और १००,००० घोड़े लगाया है। हाथी स्थानीय राजाओं द्वारा दान में मिले थे और कुछ उसके मजदूराधिकारियों द्वारा पकड़े गये थे। घोड़े बनाम (अरब), फारस, कम्बोज, बार्दट और सिन्ध से आते थे जैसा कि वाण ने लिखा है। उसने एक उँटों के दस्ते का भी उल्लेख किया है।

इन सब विजयों के उपरान्त हर्ष सकलोत्तरापधनाथ के रूप में उत्तरी भारत का सार्वभौमिक सम्राट् बन गया था। उसके सार्वभौमिक रूप का साक्ष्य विभिन्न राज्यों से उसके सम्बन्धों एवं उनके प्रदेशों में उसके अनुसंधानों उत्तरी भारत (यात्राओं) द्वारा प्रकट होता है। श्वान-चाङ्ग की जीवनी पर आधर्य के अनुसार उसने कामोद अथवा गजम तक की यात्रा की और उड़ीसा में छावनी डालकर वहाँ एक महायान सभा बुलाई जिसमें नालन्दा के विद्वानों ने भाग लिया। इस सभा में स्थानीय बौद्ध विद्वान् जयसेन की विद्वत्ता का महत्त्व

प्रकट हुआ जिसे हर्ष ने ओड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय पारितोषिक रूप में प्रदान की।

अन्य राजाओं के साथ उसके जो सम्बन्ध रहे उनसे ज्ञात होता है कि वे उसके प्रभुत्व-क्षेत्र के अन्तर्गत थे। उसने कदमीर के राजा को बूढ़ का एक अवशेष लौटाने पर विवश किया और असम के राजा को अपने सामन्त के रूप में अभिषिक्त किया। चलन्धर के राजा उदितों को उसने समस्त भारत में बौद्ध धर्म के कार्यकलाप के नियंत्रण के लिए नियुक्त किया। जब श्वान-बाह् अपने देश को वापिस लौट रहा था तो हर्ष ने उसे सीमाप्रदेश तक सुरक्षित रूप से ले जाने के लिए नियुक्त किया। उसने अन्य राज्यों के अध्यक्षों के नाम पत्र लिखे कि वे चीनी यात्रों की यात्रा की सुरक्षा के लिए बाहन और रक्षकों का प्रबन्ध करें। उसके बाद उसने स्वयं अपने मित्र असम नरेश कुमार और बलभी के राजा ध्रुवभट्ट के साथ इन रक्षकों का निरीक्षण किया। इस प्रकार उसने अपने सावन्नीम पद का प्रयोग किया।

उसने चीन में दूतमण्डल भेजे। ६४१ ई० में उसने चीनी सम्राट की सभा में एक ब्राह्मण दूत भेजा। चीनी राज्य की ओर से ६४५ ई० में एक दूतमण्डल बदले में आया। बाह्-हयून-त्से के अधीन एक अन्य दूतमण्डल विदेशी दूत उसके राज्य में आया (स्मिथ : अली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया तीसरा संस्करण पृ० ३५२)

हर्ष निश्चित समय के बाद धार्मिक प्रचार के लिए बड़ी-बड़ी सभाएँ बुलाया करता था। एक ऐसी सभा कन्नौज में हुई जिसमें श्वान-बाह् ने महायान पर प्रवचन किए। इस सभा में अनेक बौद्ध भिक्षुओं, विद्वानों और कन्नौज की सभा ब्राह्मणों के अतिरिक्त अठारह राजा भी सम्मिलित हुए जिनमें असम और बलभी के राजा प्रमुख थे। सभा २३ दिन तक चलती रही किन्तु अन्त में कुछ षड्यंत्रकारियों ने जो महायान के इस एकपक्षीय प्रचार के विरुद्ध थे मण्डप में आग लगा दी। ५०० ब्राह्मणों की षड्यंत्रकारी घोषित करके देण निर्वसित किया गया।

राजा दान बाँटने के लिए प्रति पाँच वर्ष एक बड़ी सभा बुलाया करता था। इसे डीक ही मोक्षपरिषद् कहते थे। यह पाँच वर्ष में एक बार होती थी। इसका छठा अविवेक ६३५ ई० में प्रयाग में हुआ जिसमें श्वान-बाह् स्वयं सम्मिलित हुआ और लगभग पाँच लाख व्यक्तियों ने भाग लिया।

इस सभा का कार्यक्रम बड़ा उदार था। इसमें बूढ़, आश्रित्य (सूर्य) और ईश्वर (शिव) की पूजा होती थी। यह बौद्ध, अबौद्ध, ब्राह्मण, स्थानीय और विदेशी

हर्ष के अप्रतिम

दान

लोगों को दान देता था। १०,००० चुने हुए बौद्धों में हरेक को १०० स्वर्णमुद्रा, एक मोती और एक सूती वस्त्र दिया जाता था। पाँच वर्ष तक कौश में जो संचय होता था वह सब इस सभा में गाली कर दिया जाता था। इस प्रकार हर्ष अपने अप्रतिम दान का उदाहरण प्रस्तुत करता था। वह अपने शरीर के वस्त्र, रत्न और आभूषण तक उत्तार कर दान कर देता था और अपनी बहन से माँग कर वस्त्र पहनता था।

शासन राजा में केन्द्रित था जो लोकमंगल का प्रतीक था। उसकी मंत्रिपरिषद् का राजा के निर्वाचन में हाथ होता था। हर्ष के विषय में इसका स्पष्ट प्रमाण मिला। यह विदेशी नीति को भी निर्धारित करती थी। इस परिषद् की गलती से ही राज्य को शत्रु-शिविर में भेजा गया जहाँ धोले से उसका वध किया गया। जैसा कि बौल (पृ० २११) ने लिखा है: "अपने मंत्रियों की भूल के कारण उसने अपना शरीर शत्रुओं के हाथ में दे दिया।"

राजा सदा घुमता रहता था। अन्य स्थानों के अतिरिक्त उसने निम्नलिखित स्थानों की यात्रा की; राजमहल, कन्नौज, प्रयाग मणितारा (अवध), उड़ीसा, कश्मीर, बलभी, रेवा और गंजम। इन सुदूर प्रदेशों की यात्राओं से राजा को अपनी प्रजा की वास्तविक स्थिति का पता चलता था। श्वान-चाङ् के अनुसार घर पर राजा सदैव काम करता रहता था। "वह अबक था, दिन उसके लिए बहुत छोटा था" (वही पृ० ३४४), कर्तव्य-परायणता के कारण वह भोजन और शयन को भी भूल गया था।

राजकीय

यात्राएँ

बाण ने उसके निम्नांकित मुख्य अधिकारियों का उल्लेख किया है: (१) विदेशी मामलों और युद्ध का मंत्री अबन्ति, (२) सेनापति सिंहनाद, (३) मुख्य अश्वध्यक्ष कुन्तल, (४) हस्तिसेना का मुख्य स्कन्दगुप्त, मुख्य अधिकारी (५) मधुवन ताम्रपत्र में वर्णित एक अन्य दूतक स्कन्दगुप्त, (६) इस ताम्रपत्र में वर्णित अक्षपटलिक ईश्वरगुप्त, (७) बीसबेड़ा ताम्रपट्ट में वर्णित अक्षपटलिक भानु।

मंत्रियों और कर्मचारियों को वेतन नकद की बजाय भूमि के अनुदान के रूप में मिलता था। श्वान-चाङ् ने लिखा है कि राजा राज्य की भूमि का एक-बीघाई भाग सरकारी कर्मचारियों के वेतन के लिए सुरक्षित रखता था और एक-बीघाई की आय से शासन और प्रजा का खर्च चलाता था। सेना को नकद वेतन मिलता था।

यदि श्रमिकों को काम करने पर विवश किया जाता था जो उन्हें वेतन दिया जाता था।

उपज का छठा हिस्सा लगान के रूप में लिया जाता था। चुंगी की चौकियों और नदियों के घाटों पर चुंगी ली जाती थी। कर और हिरण्यदि से भी राज्य आय की आय होती थी।

श्री प्रतापसल (प्रतापसोल) और श्री शालदत्त (शालादित्य) के चांदी की मुद्राएँ मिलती हैं। ये प्रभाकर और हर्ष की मुद्राएँ हो सकती हैं क्योंकि उनके बिन्द इनसे मिलते हैं। एक स्वर्णमुद्रा भी मिली है जिसके मुद्राएँ सीधी ओर हर्षदेव लिखा है और एक घुड़सवार की आकृति अंकित है। हर्ष की दो मोहरों भी मिली हैं। सोनपत की मोहर पर शिव का वाहन गन्दी अंकित है जिसका उपासक उसका वंशप्रवर्तक था। दूसरी मोहर के टुकड़े नालन्दा में मिले हैं। इस पर श्री हर्ष का नाम लिखा हुआ है और उसे माहेश्वर, सार्वभौम और महाराजाधिराज कहा गया है।

हर्ष के राज्यकाल में देश की भौतिक और नैतिक उन्नति का मूल्यवान विवरण बाण और श्वान-वाङ् की कृतियों में मिलता है।

चीनी यात्री के अनुसार विदेशी लोग भारत की ब्राह्मणों का देश समझते श्वान-चांग का थे जो बहुत पवित्र और सर्व वर्गों से अधिक समादृत थे। भारत-वर्णन सभ्य वर्ग, जिसमें बौद्ध भी शामिल थे, संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे।

ब्राह्मण धर्म अनेक दलों में विभक्त था, जो बाह्य विशिष्ट चिह्नों, जैसे मण्ड-सम्प्रदाय और माल, घुटे सिर, गाँठ में बंधे बाल और भस्म से रंगे संन्यासी शरीर द्वारा पहचाने जाते थे।

बाण के अनुसार विभिन्न सम्प्रदाय कृष्ण, कर्पिल, कणाद, न्याय, उपनिषद्, लोकायत आदि के अनुयायी थे। बाण ने संन्यासी विधवाओं, पराशर, जैन, शैव, कापालिक आदि सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।

श्वान-वाङ् के अनुसार ये संन्यासी त्याग-तपस्व्य का जीवन व्यतीत करते थे, धन की चिन्ता नहीं करते थे, अपना भोजन माँग कर खाते थे और अपरिव्रह के आदर्श का पालन करते थे। "राजा उन्हें दरबार में जाने को बाध्य नहीं कर सकते थे। ये संन्यासी देशभर में घूमते रहते थे और उस समय के ज्ञान-विज्ञान के सम्बन्ध में लोगों में प्रवचन करने से नहीं शक्त थे।"

श्वान-वाङ् का उद्देश्य भारत के सांस्कृतिक केन्द्रों और बौद्धों एवं ब्राह्मणों के तीर्थों की यात्रा करना था। बौद्धों के केन्द्र विहार थे। श्वान-वाङ् के अनुसार उनकी संख्या ५००० थी और उनमें रहने वाले भिक्षु शिक्षा के केन्द्र दो लाख थे। यह उल्लेखनीय है कि उसे इन विहारों में अबोध

भिक्षु भी मिले। कश्मीर एक प्रमुख बौद्ध-केन्द्र था जहाँ के राजा और बौद्ध कर्मचारियों ने चीनी यात्री की हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने में सहायता की।

उस युग का सबसे प्रमुख शिक्षाकेन्द्र नालन्दा का महाविहार या विषय-विद्यालय था जहाँ स्वान-चाङ्ग ६३५ से ६४० तक ५ वर्ष रहा। वहाँ उसने महाविहार के अध्यक्ष शीलभद्र के चरणों में बैठ कर योग का अध्ययन किया। नालन्दा एक स्नातकोत्तर विश्वविद्यालय था जिसमें ८५०० विद्यार्थी १५१० शिक्षकों से शिक्षा पाते थे। शिक्षक और विद्यार्थी का अनुपात १:५ था। इस अनुपात के अनुसार शिक्षकों और विद्यार्थियों का वैयक्तिक शिक्षा-सम्पर्क था जो शैक्षणिक दक्षता का आधार था।

नालन्दा में एक कठिन परीक्षा के बाद प्रवेश मिलता था जिसमें केवल २० प्र० श० विद्यार्थी उत्तीर्ण होते थे। नालन्दा में कोरिया, मंगोलिया, जापान, चीन, तुस्तार, तिब्बत, लंका आदि विदेशों से विद्यार्थी और विद्वान् पढ़ने के लिए आया करते थे जैसा कि स्वान-चाङ्ग ने लिखा है। स्वान-चाङ्ग को ऐसे ५६ विद्यार्थी मिले। इनमें से कुछ ने भारतीय नाम रख लिये थे। ह्वान-चाङ्गो ने अपना नाम प्रकाशमति रक्खा, ताओ-ही, ताओ-चेङ्ग, ता-चेङ्ग-तेङ्ग, ताओ-लिन और लिङ्ग-युन क्रमशः श्रीदेव, चन्द्रदेव, महापान प्रदीप, शीलप्रभ और प्रज्ञादेव कहलाते थे।

अध्यापन-पद्धति उच्च शिक्षा के लिए उपयुक्त थी। यह विचार-मोष्टियाँ में विचारों के आदान-प्रदान पर आधारित थी। प्रतिदिन इस प्रकार की १०० विचार-मोष्टियाँ होती थीं। स्वान-चाङ्ग ने लिखा है, “पढ़ते विचार-मोष्टी और विचार करते थे इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें दिन बहुत छोटा प्रतीत होता था, दिन रात वे एक दूसरे को उपदेश देते रहते थे, छोटे और बड़े एक दूसरे की पूरी सहायता करते थे जिससे वे पूर्णता प्राप्त कर सकें।

अध्ययन के विषयों में दृष्टिकोण की उदारता प्रकट होती है। ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म के ग्रन्थ, धार्मिक और आधुनिक विषय, कला और विज्ञान, विस्मय और उद्योग—सब की शिक्षा की व्यवस्था थी। हेतुविद्या (तर्क), शब्द विद्या (आकरण), चिकित्साविद्या (भैषज्य), सांख्य, योग, न्याय और सर्वास्तिवाद, माध्यमिक आदि विभिन्न बौद्ध दर्शनों की शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध था। यह उल्लेखनीय है कि चिकि-

रसा-संबंधी शिक्षा अनिवार्य थी। ई-चिह्न ने इसे सामाजिक सेवा के लिए उपयोगी पाया था।

नालन्दा के शिक्षकों में शीलभद्र, नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुचन्द्र और दिङ्नाम जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे जो विभिन्न युगों में वहाँ प्रशिक्षण-कार्य करते थे। स्वान-वाङ् के अनुसार नालन्दा के निवशाल दश-प्रमुख शिक्षक शिक प्राण में सात विहार और आठ प्रकोष्ठ थे जो विद्या-धियों के निवास की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। विहार कई नभचुम्बी तलों के प्रासाद थे। विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का भवन नौ तलों का था।

विश्वविद्यालय की अपनी निजी मुद्रा थी जिस पर "श्री नालन्दा महाविहार-आर्य-भिक्षु-संघस्य" लेख उत्कीर्ण था। विश्वविद्यालय से संबंधित पृथक् विहार या विद्यालय थे और उनकी अलग-अलग मुद्राएँ थीं। उदाहरणार्थ ऐसी एक मुद्रा गुणाकर नामक संघ अथवा विद्यालय की थी (श्री नालन्दा महाविहार-गुणाकर-बुद्ध-भिक्षुणाम्)। स्वर्नाय विद्यालयों के अतिरिक्त विदेशी विद्यालय भी विश्वविद्यालय से संबद्ध थे। ऐसा एक विद्यालय सुवर्णद्वीप (जावा-सुमात्रा) के सैलेंद्रवंश के महाराज बलपुत्र-देव ने स्थापित किया था। यह तथ्य पाल राजा देवपालदेव (८५४ ई०) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है जिसकी सभा में इस विदेशी राजा ने अपने राजपूत (दूतक) बलवर्मा के द्वारा अनुदान भेजा था। इस अनुदान द्वारा जावा के विदेशी छात्रों को, जो नालन्दा में शिक्षा प्राप्त करते थे, निःशुल्क भोजन, वसन और जीवन की आवश्यकताओं के अन्य पदार्थ मिलते थे।

विश्वविद्यालय अपने कुपिशेव और दुग्धशाला से खाद्यपदार्थ प्राप्त करता था। इनका प्रबन्ध सुचारुरूप से किया जाता था। जैसा कि चीनी-यात्री ने लिखा है प्रतिदिन विश्वविद्यालय में कई सौ 'पेकूल' साधारण चावल और कई सौ कोही मक्खन और दूध से लदे हुए छकड़े आते थे (एक पेकूल=१३३ पीण्ड=६६३ सेर=१३ मन; एक कोही=१५० पीण्ड=७५ सेर=लगभग २ मन)। इस प्रकार विश्वविद्यालय अपने विशाल जनसमूह के भोजन के लिए अपने सतों से ही चावल, दूध, मक्खन आदि खाद्यपदार्थों को प्राप्त करने की व्यवस्था करता था।

नालन्दा की तरह बाण द्वारा वर्णित विन्ध्याटकी में दिवाकरमित्र का आश्रम था जहाँ विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी शिष्या के लिए एकत्रित होते थे। इन में जैन, अहिंस, मस्करी, यर्षी, भागवत, केशलूचक, लोकायतिक (जावांक), कपिल, कणाद, शाब्दिक, बौद्ध आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार शिक्षा का समन्वय हो

गया था जिसमें साम्प्रदायिक विभेद लुप्त हो गये थे ।

हर्ष केवल शिक्षा का संरक्षक ही नहीं था, स्वयं शिक्षाप्रेमी भी था । कम-से-कम उसे तीन नाटक नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका का लेखक माना जाता है । जयदेव कवि ने अपने महान् ग्रन्थ गीतगोविन्द में हर्ष की गणना भास और कालिदास जैसे महाकवियों में की है ।

स्थानीय राज्य और उनका आपसी संघर्ष

जैसा कि भारतीय इतिहास में बहुधा होता आया है साम्राज्य के पतन के बाद और उसके एकात्मक प्रभाव के टूटने के फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्यों का उदय हो जाता है जो आपस में राज्यशक्ति के लिए लड़ते-झगड़ते रहते हैं। हर्ष की मृत्यु के बाद भी यही हुआ।

६४७ अथवा ६४८ ई० में (अथवा स्वाम-नाइ की जीवनी के अनुसार ६५५ ई० में) हर्ष के निधन के अनन्तर उसका साम्राज्य अर्जुन नामक एक अयोग्य उत्तरा-
अर्जुन धिकारी के हाथ में पड़ गया, जिसने बाह-ह्वान-त्से के चीनी दूत-मण्डल के आराध्यक दल को मार डालने की भूल की। चीनी नेता ने तिब्बत के राजा लोंग-चंग-गम्पा, असम के राजा भास्कर वर्मा और नेपाल के राजा की सहायता से इस कुकृत्य का बदला लिया और अर्जुन को बन्दी बनाकर चीन भेज दिया।

हर्ष के साथी महत्वगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने बड़ी शक्ति प्राप्त की और अश्व-मेघ यज्ञ किया जैसा कि उसकी मुद्राओं से प्रकट होता है जिन पर 'आदित्यसेनदेव' आदित्यसेन और उसके विरुद्ध खुदे हैं।

उस युग का अन्य महत्वपूर्ण राजा यशोधर्मा (७२५-७५३ ई०) था जिसने मगध, गौड़, बंग (पूर्वी और मध्य बंगाल) के राजाओं पर विजयें प्राप्त कीं, जैसा कि गौड़बहों से ज्ञात होता है। किन्तु ७५३ ई० में कन्नौज के यशोधर्मा राजा खलितादित्य ने उसके प्रसार को रोक। उसकी समा

मालवी भाषण, उत्तर रामचरित और महावीर चरित के लेखक भवभूति और गौडवहो के लेखक आकाशित राज के कारण प्रसिद्ध हैं।

यशोजर्मा के बाद आयुधों का राज्य आया। उन्होंने कश्मीर, पाली और राष्ट्र-
आयुध कूटों से संघर्ष किया। अन्त में गोविन्द तृतीय के राज्यकाल में राष्ट्रकूट सब से अधिक शक्तिशाली हो गये।

इसके बाद प्रतीहार रंगमन्त्र पर आये। वे गुजरात की एक शाखा से जो हर्षों
प्रतीहार के बाद भारत में प्रविष्ट हुए।

इस वंश की एक शाखा नागभट्ट प्रथम के नेतृत्व में उज्जयिनी
नागभट्ट प्रथम में उस गई।

इस परिवार का प्रसिद्ध राजा वत्सराज (७३५-८०० ई०) था जिसने
धर्मपाल के राज्यकाल में गौड़ों को परास्त किया।

उसका योग्य उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय था (लगभग ८००-८३३ ई०)।
उसने मुद्रगगिरि (मुमैर) में मगध के राजा धर्मपाल को हराया। इसके अतिरिक्त
नागभट्ट उसने आनन्त (उत्तरी काठियावाड़), मालवा (मध्यभारत)
द्वितीय मल्ल (पूर्वी राजपुताना), किरात (हिमालयदेश), तुलुक
 (अरब) और (कौशान्बी के) वत्सों को पराजित किया (एपिग्राफिया इण्डिका,
 भाग १८, पृ० १०८, ११२; भाग ५, २) आन्ध्र, सिन्धु, विदर्भ, कालिंग आदि
 सुदूर प्रदेशों ने भी उसकी बढ़ती हुई शक्ति का अनुभव किया और वहाँ के राजाओं
 ने उससे संधि करनी चाही।

अगला महत्वपूर्ण प्रतीहार राजा मिहिरभोज था जिसने दक्षिणी राजपुताने
 से उज्जैन होते हुये नर्मदा तक के विस्तीर्ण प्रदेश पर विजय प्राप्त की, किन्तु ८०७
 ई०, में राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव द्वितीय के हाथों उसने हार का
मिहिरभोज खाया। किन्तु राष्ट्रकूटों के आन्तरिक वैमनस्य और बंगाल के
 प्रतापी राजा देवपाल की मृत्यु के फलस्वरूप उसने उत्तरी
 भारत में अपनी साध्वनीय सत्ता स्थापित कर ली। उसके लगभग ५० वर्ष के
 राज्यकाल में प्रतीहार वंश का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँचा।

मिहिरभोज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र महेंद्रपाल प्रथम (लगभग ८३०-
 ९०८) था। उसने पूर्व में मगध तक और पश्चिम में सौराष्ट्र तक अपने राज्य का
विस्तार किया। कर्पूरमंजरी, काव्यमीमांसा जैसे महान ग्रन्थों
राजशेखर के प्रणेता राजशेखर उसकी सभा की सुशोभित करते थे।

उससे अगला प्रसिद्ध नरपति महीपाल (९१२-९४४ ई०) था। उसे राष्ट्र-
 कूट राजा इन्द्र तृतीय ने कष्ट दिया। इन्द्र महोदय (कन्नौज) और प्रयाग तक
 बढ़ता चला आया और मगध के पाल राजा ने भी अपना खोया
महीपाल हुआ राज्य प्राप्त करने की चेष्टा की। अन्त में महीपाल ने

अपनी स्थिति दृढ़ कर ली और केरल, कुन्तल और कलिंग तक उसका लोहा माना जाने लगा। क्षेमीश्वर ने अपने नाटक चण्डकौशिक में उसे कर्नाट का विजेता कहा है और राजशेखर ने उसे 'आर्यावर्त का नरपति' बताया है।

देवपाल राजा (९४६-६०) ने चन्देल राजा यशोवर्मा को एक विष्णु की मूर्ति भेंट की जिसे उसने खजुराहो के मन्दिर में स्थापित किया। उसके भाई विजयपाल (९६०-९९१) के राज्यकाल में खालियर पर कच्छपघात नरपति ने अधिकार कर लिया और गुजरात अनहिलवाड़ा के चालुक्य राजा के अधीन हो गया (९६१)।

प्रतीहारों का पतन

महमूद गजनवी के आक्रमणों ने प्रतीहार-शक्ति के ह्रास को तेज कर दिया।

गाहड़वाल (१०९०-११९४)

इस वंश का प्रवर्तक चन्द्रदेव था जिसने चन्देल राजा कीर्तिवर्मा के सेनापति गोपाल को परास्त करके अपने राज्य की नींव रखी थी जैसा कि एक शिलालेख से ज्ञात होता है। शिलालेख में उसे काशी, कुशिक (कधीज), चन्द्र देव इन्द्रस्थान (देहली) आदि हिन्दू धर्म के पवित्र स्थानों का परिचय देता बताया गया है। ११०० ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। इसी शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने तुर्ककदंड नामक एक विशेष कर लगाया था जिससे या तो मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने के लिए सेना का लाने चलाया जाता था या उनको कर देने की व्यवस्था की जाती थी।

गोविन्दचन्द्र (११०४-११५५)

अगला प्रमुख राजा गोविन्दचन्द्र था जिसने पाल राजाओं से पटना और मुंगेर के कुछ प्रदेश छीन लिए थे जैसा कि उसके अनुदानों से प्रतीत होता है। उसकी विजयपताका दशार्ण (दशभि मांलजा) तक फहरी। कल्प-कल्पतक (कल्पद्रुम) का विद्वान् लेखक लक्ष्मीधर उसका मंत्री था। उसने बौद्ध जेतवन विहार को, जो उस समय उत्कल के विद्वान् भिक्षु शाक्यरक्षित और उसके चोल शिष्य वागीश्वर रक्षित के अधीन था, कुछ धर्मों का दान दिया। उसकी पत्नी कुमारदेवी ने, जो पौठी की रहनेवाली थी, सारनाथ में एक बौद्ध विहार और मूर्ति का उद्धार किया।

११५४ ई० में गोविन्दचन्द्र के स्थान पर उसका पुत्र विजयचन्द्र राजा बना। पृथ्वीराज रासो में उसकी विजय का उल्लेख है। उसने लाहौर से सुसरो को निकाल विजयचन्द्र दिया किन्तु विजयराज बीसलदेव ने उससे दिल्ली छीन ली।

अगला प्रमुख राजा जयचन्द्र था (लगभग ११७० ई०)। उसका राज्य बनारस और गया तक था। उसने अपनी पुत्री का स्वयंम्बर आयोजित किया जिसमें

अथचन्द्र

पृथ्वीराज चौहान उसे उठा ले गया। वह और उसका दामाद दोनों सिहाबुद्दीन गौरी के हाथों मारे गये।

नैपथीयचरित और अन्य कृतियों के लेखक श्रीहर्ष के कारण उसकी सभा प्रसिद्ध है।

इतिहास उसे देशद्रोही के रूप में याद करता है क्योंकि उसने मुसलमान आक्रान्ता के विरुद्ध पृथ्वीराज का हाथ नहीं बढ़ाया। इस आक्रमणकारी ने हिन्दुओं की फूट का लाभ उठा कर हिन्दू राजाओं को एक-एक करके परास्त कर दिया।

हर्ष के समय से लेकर पालवंश के अन्त्य तक के बंगाल के इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं है। पंचगौड़ों का उल्लेख मिलता है जिन पर कन्नौर के जयापीड ने

राज्य किया था। पुष्टवर्धन के राजा जयन्त की पुत्री कल्याण-बंगाल के देवी के साथ उसके विवाह के फलस्वरूप बंगाल पर उसका

पालः गोपाल प्रभुत्व हो गया था। (पंचगौड़ाधिप जित्वा स्वसुरं तदधीश्वरम्)। उस समय गौड़ का अर्ध पश्चिमो बंगाल था और बंग का

तात्पर्य पूर्वी बंगाल था। एक शिलालेख में मात्स्यन्याय (अराजकता) का विक्र है जिसमें शक्तिशाली निर्वल को लाए जा रहा था। अन्त में जनता (प्रकृति) ने

वण्य के पुत्र गोपाल को अपना राजा चुना (सलीमपुर ताम्रपट्ट लेख)। गोपाल ने मगध और समुद्र तक के देश को जीता। कहा जाता है कि उसने ४५ वर्ष तक राज्य किया और ओदन्त पुरी (बिहार बरौफ) के बिहार को स्थापना की।

किन्तु बंगाल प्रतीहार और राष्ट्रकूट जैसे शत्रुओं से आवर्तित हो रहा था।

७८० ई० के आसपास गोपाल का पुत्र धर्मपाल गङ्गी पर बैठा। शिलालेखों के अनुसार उसने ३२ वर्ष तक राज्य किया। ताराताप ने उसके राज्य की अवधि ६४ वर्ष लिखी है। उसने अपनी विजयों से सार्वभौम पद प्राप्त

किया। उसने कन्नौज के सिहासन पर, निकटवर्ती राजा भोज, मत्स्य, भद्र, कुश, अवन्ती आदि के समर्थन से, एक विशेष समारोह में चक्रपुष्प का अभिषेक किया। तब से उसे उत्तरापाण और पंचगौड़ का स्वामी कहा जाने लगा। ताराताप के अनुसार पूर्व में समुद्र तक, उत्तर में तिली (दिल्ली) और जलन्धर तक और दक्षिण में विन्ध्य तक उसका राज फैल गया था। देवपाल के मुगैर के ताम्रपट्ट लेख से ज्ञात होता है कि उसने केदारनाथ तक के प्रदेश को जीत लिया था। ७८३ और ८१९ ई० के बीच में उसकी विजयों का समय है किन्तु एक शिलालेख के अनुसार वह अब भी राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीय के प्रति आदर प्रकट करता था जिससे प्रकट होता है कि वह उसके अधीन था। वह एक विद्याप्रेमी, विद्वानों के संरक्षक, भागलपुर के निकट विक्रमशिला के बौद्ध विहार और अपने नाम से प्रसिद्ध सोमपुर (गहाड़पुर) के बिहार के संस्थापक के रूप में प्रख्यात है। उसके काल में भीमान और

उसके पुत्र विद्याल ने एक नये कला सम्प्रदाय की नींव रखी।

८१५ ई० के लगभग उसका पुत्र देवपाल उसका उत्तराधिकारी बना। उसने ३५ वर्ष तक राज्य किया और हिमालय, विन्ध्य और रेवा तक के प्रदेश पर विजय प्राप्त की। बादल के शिलालेख से ज्ञात होता है

देवपाल कि उसने गुर्जर, राष्ट्रकूट, हूण और उत्कल (उत्कीलितो-त्कलकूटम्) के दर्रे का प्लवन किया। ऐसा लगता है कि

द्विविध तरपति पाण्ड्य तरेय श्रीमार था। एक अन्य शिलालेख में उसकी कम्बोज विजय का जिक्र है। वह विद्या का, विजयतः नालन्दा महाविहार का, सरस्वक था। सीमा के पार नगरहार (जलालाबाद) के बिहान् ब्राह्मण वीरदेव को उसने इस विहार का अण्वदा नियुक्त किया था।

जाबा के धैलेन्द्र राजा बलपुत्रदेव ने एक दूतमण्डल भेज कर उसे समादुहत किया था। इसका उद्देश्य नालन्दा में जाबा के विद्याधियों के लिए एक विशेष विद्यालय के निर्माण के हेतु मगध के पाँच ग्रामों के एक अनुदान की व्यवस्था करना था। देवपाल के बाद उसका भतीजा जयपाल, जो **जाबा का दान** उसका सेनापति था और जिसे उसकी बहुत-सी विजयों का श्रेय प्राप्त था, गद्दी पर बैठा।

अगला प्रमुख राजा नारायणपाल (८५४-९०८ ई०) था। उसने दीर्घ काल तक राज्य किया जिसमें गुर्जर प्रतीहार राजा मिहिरभोज और उसके पुत्र महेंद्र-

नारायणपाल पाल के आक्रमण हुए। उन्होंने मगध का एक भाग अपने राज्य में मिला लिया। गुर्जर प्रतीहार-आक्रमणों के बाद

राष्ट्रकूट राजा जगोधर्ष ने बंगाल पर छावा बोल दिया और एक शिलालेख के अनुसार बंग, बग और मगध पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। देवली के शिलालेख के अनुसार उसके पुत्र कृष्ण द्वितीय नेमोडोको विनयव्रत की दीक्षा दी (अपने अधीन किया)। अन्त में उसने अपने पुत्र राज्यपाल का कृष्ण द्वितीय की पुत्री भाग्यदेवी से विवाह कर के समझौता किया। इस पाल राजा की उड़ीसा के शुल्की राजा रणस्तम्भ का भी सामना करना पड़ा जिसने राड़ू को जीत लिया। कृष्ण जिले के एक और साधारण से राजा ने बंग, मगध और गौड़ को जीतने की दौरे मारी जिससे पता चलता है कि उसने पाल राज्य पर आक्रमण किया।

प्रतीहार और राष्ट्रकूट आक्रमणों से पालों की शक्ति छीन हो गई थी। फिर उन्हें असम, उड़ीसा, मौर्यपुर और कलचुरी राजा यशोवर्मों के आक्रमणों के संकटों का भी मुकाबिला करना पड़ा। यशोवर्मों को **संकट** बंगाल-बंग-निपुण (बंगाल की नष्ट करने में चतुर) कहा गया है। हरिकेल (समतट और उड़ीसा के बीच का प्रदेश)

के राजा कान्तिदेव और कम्बोजों ने भी आन्तरिक विद्रोह शुरू कर दिए ।

नारायणपाल का दुर्बल उत्तराधिकारी विग्रहपाल इस संकट के पहाड़ का सामना करने में असमर्थ था । कहा जाता है कि वह राज्य छोड़कर चला गया । और परिव्राजक बन गया ।

विग्रहपाल द्वितीय के बाद महीपाल प्रथम (९९२-१०२६ ई०) गद्दी पर बैठे । एक शिलालेख से पता चलता है कि उसने अपने पैतृक राज्य के एक अंश को फिर से प्राप्त कर लिया । पश्चिमी बंगाल के शूर सामन्तों

महीपाल प्रथम और पूर्वी बंगाल के चन्द्र राजाओं द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा करने के फलस्वरूप पाल राज्य और अधिक दुर्बल हो गया ।

इसी समय राजेन्द्र चोल ने बंगाल पर आक्रमण किया । उसने ओड, (ओड़ीसा) कोसल, के मार्ग से अभियान किया और उसके सेनापतियों ने दक्षिण राठ और बंगालदेश पर अधिकार किया, पाल राज्य की और अधिक धक्का लगा । ऐसा लगता है कि चोल राजा ने महीपाल को परास्त करके उत्तरराठ को अपने राज्य में मिला लिया और १०२३ ई० में गंगा तक प्रयाण किया ।

इसी समय चेदि के कलचुरी राजा मांगेयदेव ने बनारस को जीत कर वहाँ के मन्दिरों को भस्मस्त करवाई । उसके द्वारा वनवाए गये भवनों से प्रतीत होता है कि उसने नालन्दा और बोधगया तक राज्य किया था ।

महीपाल ने अन्ततः वर्मा चोडगंग के राज्यकाल में कालिंग पर आक्रमण किया । कालिंग का यह राजा चोल सम्राट् के विरुद्ध उसका सहायक बन गया ।

इसके बाद पाल इतिहास सामान्य राजाओं का समूह है जिन्हें चेदि और चालुक्य जैसी शक्तियों का सामना करना पड़ा बंगाल पर इनके कई आक्रमण हुए थे ।

महीपाल द्वितीय संघ्याकर बन्दी द्वारा लिखित रामचरित का नामक है । उसके अनुसार उसने अपने भाई दूरपाल और रामपाल को बन्दी बना लिया

इस पर उसके सामन्त, कैबर्त नेता दिव्य (दिव्योक्त) ने **महीपाल द्वितीय** उसके विरुद्ध विद्रोह छेड़ दिया और उसे हराकर उसके भाइयों को मुक्त कर दिया जो राजा बन गये । रामपाल ने अपने राज्य से भाइयों को निर्वासित कर के उत्कल, कलिंग और कामरूप के विरुद्ध आक्रमण किए किन्तु सामन्तसेन ने उससे पूर्वी बंगाल छीन लिया ।

रामपाल का उत्तराधिकारी कुमारपाल था, जिसके योग्य मंत्री विशादेव ने विद्रोही तत्वों का दमन किया ।

अगला पाल राजा मदनपाल था जिसने ११३० ई० तक २४ वर्ष प्रगथ और उत्तरी बंगाल पर राज्य किया । किन्तु उसकी सत्ता को सेन राजा विजयसेन

मदनपाल ने चुनौती दी। उसने पूर्वी और पश्चिमी बंगाल, और बरेन्द्र-भूमि का दक्षिणी भाग जीत लिया और मदनपाल तथा मिथिला के राजा के विरुद्ध अभियान किया। इसी समय पाल राज्य को कन्नौज के महारपाल राजा गोविन्दचन्द्र के आक्रमण का सामना करना पड़ा।

अगले राजा गोविन्दपाल ने ११९९ ई० तक राज्य किया जब चौहान, पाल, सेन जैसे सब हिन्दू राजवंश मुसलिम आक्रमणों के ज्वार में बह गये। इस प्रकार चार सताब्दियों के राज्य के बाद पालवंश का अन्त हुआ।

गोविन्दपाल इस लम्बे काल में उन्होंने कई महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य किए। पाल राजा ओदंतपुरी और बिहममिल्ला जैसी शिक्षण-संस्थाओं के संस्थापक थे। विग्रहपाल तृतीय के राजाकाल में नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीजान अतीश दीपंकर ने तिब्बत में भारतीय दर्शन और विद्याकाप्रचार किया। बाद में वे जावा भी गए। पाल राजा देवपाल को जावा के राजा से मित्रता थी जिसके फलस्वरूप जावा के राजा ने नालन्दा में जावा के विद्याधियों के लिए एक विशेष विद्यालय बनाने के लिए उसके पास अनुदान भेजा।

पाल राज्य के पतन से स्वामीय राजवंशों की उन्नति का अवसर मिल गया। इनमें से एक चन्द्रवंश था जिसके राजा अपने आप को महाराजाधिराज कहते थे।

चन्द्रवंश चन्द्र राजाओं का निवासस्थान रोहितगिरि (कोमिल्ला की पहाड़ियों में लालमाटी में था। शिलालेखों में सुवर्णचन्द्र शैलोकचन्द्र और श्रीचन्द्र को महाराजाधिराज और परम सौगत की उपाधियों से अभिहित किया गया है। इन शिलालेखों से यह भी पता चलता है कि श्रीचन्द्र की राजधानी विक्रमपुर में थी। और उसने पुण्ड्रवर्धन भुक्ति, कुमारतालकमण्डल (कुमारखाली, जिला फरीदपुर) और पद्मा नदी के तट पर सतत पद्मावती विषय में भूमि के अनुदान दिए।

अगला महत्वपूर्ण राजा गोविन्दचन्द्र था जिसका राज्य सनड़ीर और पैकपारा (पूर्वी बंगाल) में था, जैसा कि शिलालेखों से ज्ञात होता है। वह बंगाल देश का सरपति था और १०२३ ई० में उसे राजेन्द्रचोल ने परास्त किया था।

कलचुरी राजा लक्ष्मीकर्ण (१०४१-७० ई०) के आक्रमण के फलस्वरूप चन्द्रवंश का ह्रास हो गया। कलचुरियों की सहायता से उनके स्थान पर मादव मादव वंश राज्य करने लगे।

इस वंश का प्रमुख राजा जातवर्मा था, जिसने कलचुरि राजकुमारी वीरश्री से, जो कर्ण की पुत्री थी, विवाह कर के अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया। अग, कामरूप, दिव्य और गोवर्धन के लिए वह संकट बन गया।

जातवर्मा उसने पुण्ड्रवर्धन भुक्ति पर भी आक्रमण किया। उसने उत्कल

के राजा हरिवर्मा और उसके मंत्री गोवर्धन को भी पछाड़ दिया। उसके उत्तराधिकारी भोजवर्मा ने अपने सार्वभौमपद को बनाए रखा और पुष्कवर्धन तक राज्य किया।

वर्मा अथवा यादव राजाओं को पहिले पालों ने फिर सेनों ने हटा दिया।

उस युग का अन्य राजवंश शूरवंश था जिसकी स्थापना आदिशूर ने की थी। परम्पराओं के अनुसार यह कन्नौज से बंगाल में ब्राह्मणधर्म के विस्तार कर के लिए आये पाँच ब्राह्मणों का नेता था।

इस युग का अन्य प्रसिद्ध राजवंश सेनवंश था। इसके संस्थापक सामन्तसेन का जन्म बंगाल में राड़ नामक स्थान पर ब्रह्मक्षत्रिय के रूप में हुआ था।

विजयसेन (११००-६५ ई०) ने देवपाड़ा शिलालेख के अनुसार, जिसे धोबी कवि की रचना बताया जाता है, बहुत-से प्रदेश जीत कर सेनवंश की सत्ता का निर्माण किया। उसने अपने अधिकाराली के (नौचि-
विजयसेन तात) को गंगा में (गंगाप्रवाहम्) सरलतापूर्वक बहाते हुए (जयकेलिषु अनुवावति) अनेक छोटे-छोटे नरपतिपों तथा मेपाड, गौड और कामरूप के राजाओं को परास्त किया।

उसके बाद उसका पुत्र बल्लालसेन (११६५-११८५ ई०) गद्दी पर बैठा। उसने एक विस्तृत प्रदेश पर राज्य किया जिसमें राड़, बरेन्द्र, वामदी, बंग और मिथिला शामिल थे। वह लेखक भी था और उसने स्मृति-
बल्लालसेन ग्रन्थ दानसागर और ज्योतिष के ग्रन्थ 'जद्भूतसागर' की रचना की। उसने 'कलीत प्रया' नामक महत्वपूर्ण सामाजिक आन्दोलन का प्रवर्तन किया जिसका उद्देश्य तात्कालिक हिन्दू समाज में रक्त की पवित्रता और वंश की शुद्धता को सुरक्षित रखना था।

एक साहित्यिक कृति और शिलालेख से पता चलता है कि उसने सुदूर मलयपर्वत तक विजय प्राप्त कर के दुरी, बनारस और प्रयाग में विजयस्तम्भ खड़े किए। कामरूप पर आक्रमण किया तथा सहडबालों
लक्ष्मणसेन से युद्ध किया। किन्तु अपनी सैनिक शक्ति के होते हुए भी वह अपनी राजधानी तदिया पर केवल १८ घुड़सवारों के साथ मुहम्मद-बिन बल्थार के आक्रमण को रोकने में असमर्थ रहा और राजधानी छोड़ कर विक्रमपुर भाग गया, जहाँ उसके बाद उसके दो पुत्रों ने लगभग १७ वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद उसके वंश का अन्त हो गया।

लक्ष्मण, एक कुबेल राजा होते हुए भी, विद्या और विद्वानों के संरक्षण के

लिए प्रसिद्ध था। जिसके फलस्वरूप उसकी सभा की ओर शीतगोविन्द के रच-
यिता जयदेव, कोशकार हलधुब, पवनदूत के लेखक धामी कवि जैसी साहित्यिक
प्रतिभाएं आकृष्ट हुईं।

कश्मीर का इतिहास कल्हण की संस्कृत रचना राजतरंगिणी में उपलब्ध
है। पहिले यह मिहिरकुल आदि हूण राजाओं के अधीन था। जैसा कि मुद्राओं
कश्मीर से ज्ञात होता है शीव मतावलंबी था।

उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य के आक्रमण के फलस्वरूप हूणों के राज्य
का अन्त हो गया। उसने कश्मीर की गद्दी पर कवि मातृगुप्त को बिठा दिया,
किन्तु प्रवरसेन द्वितीय ने उसे तुरन्त निकाल दिया। प्रवरपुर
मातृगुप्त (श्री नगर) का संस्थापक यही प्रवरसेन था।

उसके बाद दुर्लभवंश द्वारा संस्थापित कर्कोट वंश राज्य करने लगा।
उसने ७६ वर्ष तक एक विशाल प्रदेश पर, जिसमें उरजा (हजारा) तलशिला,
कर्कोट-वंश सिंहपुर आदि सम्मिलित थे, राज्य किया।

उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र दुर्लवर या जिसका पुत्र मुक्तापीड ललिता-
दित्य ६३६ और ६४७ ई० के बीच में बहुत प्रसिद्ध हो गया था। उसने सिन्धु
की सेनाओं को हराया, जलन्धर, लोहार को जीता, सिन्धु
मुक्तापीड ललितादित्य के शाहियों को पराजित किया और कल्हण के अनुसार बंगाल,
उड़ीसा, काठियावाड़, कम्बोज, तुषार (बड़का) और दरद
प्रदेश पर विजयें प्राप्त कीं। उसने प्रसिद्ध मातृगुप्त-मन्दिर का निर्माण कराया
और परिहासपुर (परसपोर) में बुद्ध की विशाल मूर्ति स्थापित कराई।

उसके पुत्र जयागोड वित्त्यादित्य ने जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, उससे
भी अधिक विजयें प्राप्त कीं। उसने गौड़, कन्नौज, नेपाल, आदि प्रदेशों को
जीता। वह भट्ट उद्भट आदि कवियों का आश्रयदाता था। उसने ७५१-८२
के बीच में राज्य किया।

कर्कोटवंश के बाद उत्पलवंश का राज्य प्रारम्भ हुआ। इस वंश का प्रथम
राजा अवन्तीवर्मा (८५५-८३ ई०) था। उसने अनेक नगरों और सिचाई के
साधनों का निर्माण कराया। उसने मुरघेपुर (वर्तमान सांघोर)
उत्पलवंश और अवन्तिपुर जैसे नगरों की स्थापना की और इन्द्रलो
की साफ कराकर और बाड़ों की रोकने के लिए बांध बनवाकर कुपि की बढ़ावा
दिया। फलतः व्यापारियों के दाम गिर गये।

उसके उत्तराधिकारी शंकरवर्मा ने सुदूर देशों को जीता और उरजा में
शरीर छोड़ा। इन अभियानों से खजाना खाली हो गया और उसे मन्दिरों की
सम्पत्ति लूटनी पड़ी।

यह बड़े विप्लव का काल था। मंत्रियों ने उसे हटाकर उसकी माता सुगन्धा को गद्दी पर बैठाया जिसे २ वर्ष बाद सेना ने अलग कर दिया और ९१४ ई० में मार डाला। तब मंत्री और सैनिक भ्रष्टाचार और घनसंग्रह में जुट गये जिससे दुर्भिक्ष पड़ गया। कुछ समय के लिए चक्रवर्ती ने भ्रष्टाचार रोकने की चेष्टा की। किन्तु मुरन्त ही बाद उसके भ्रात भाई ने गद्दी पर आकर लूट-खसोट शुरू की। ९३९ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उत्पलवर्धन का अन्त हो गया।

उसके बाद बहुत-से अयोग्य शासक गद्दी पर आए। अन्त में दिछा ने अपने ५० वर्ष के राज्यकाल में, जो मन्दिरों के निर्माण से परिपूर्ण था, शान्ति स्थापित की। किन्तु वह भी नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट हो गई और १००३ रानी दिछा ई० में उसका देहान्त हो गया। उसके बाद उसका भतीजा संग्रामराम गद्दी पर आया, जिससे लोहार नामक नवीन राज-वंश का श्रीगणेश हुआ।

अनन्त नामक शासक (१०२८ ई०) के राज्यकाल में स्थिति सुधरी। उसकी रानी सूर्यमती शासन और कोष को सुधारने के लिए उसके मंत्री का काम करती थी। किन्तु आसपास के प्रदेशों में अनन्त के आक्रमणों के फलस्वरूप उसका सारा कार्य नहीं के बराबर हो गया। उसने अपने सीमा मंत्री हलचर के परामर्श से अपने पुत्र कलश को राज्य दे दिया। किन्तु कलश विद्रोही सिद्ध हुआ। अतः उसके पिता ने आत्म-हत्या कर ली और उसकी माता सती हो गई। इस पर कलश के चरित्र में सुधार हो गया और उसने कश्मीर का खोया हुआ सम्मान फिर से प्राप्त कर लिया।

अगला शासक उसका पुत्र हर्ष था जिसने अनेक पारिवारिक कष्टों के होते हुए भी अपने शासन द्वारा स्थिति को सुधारा और विद्या और संस्कृति को प्रोत्सा-
हन दिया। किन्तु उसने सैनिक प्रसार प्रारम्भ कर दिया और उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिए मन्दिरों और मठों को लूटना और भारी कर लगाना प्रारम्भ किया जिससे सेनापति उच्छल उसके भाई सुसाल के नेतृत्व में विद्रोह भूमक उठा। ११०१ ई० में हर्ष का वध हुआ। कलश हर्ष के मित्र का पुत्र था और उसने राजतरंगिणी में उसके राज्य का संपूर्ण वृत्तान्त प्रस्तुत किया है।

तब उच्छल कश्मीर का राजा बना और उसने अपने भाई को लोहार का राजा नियुक्त किया। रछ ने जीध ही उसे मार डाला। तब सिंहासन पर शीघ्र-
तापूर्वक एक के बाद दूसरा आक्रान्ता आया और कश्मीर के इतिहास में अन्धकार का युग आ गया। कुछ हद तक

११२३ ई० में मुस्सल के पुत्र जर्पासिह ने शास्ति स्थापित की। उसने ११५५ ई० तक ३० वर्ष राज्य किया। उसकी शक्ति इतनी थी कि उसने मुसलमानों की सहायता से उठे अपने सामन्तों के विद्रोह को दबा दिया।

उसके बाद बहुत-से अयोग्य शासकों ने राज्य किया। इनमें से केवल एक, जगदेव (११९८-१२१३) ने इतिहास में सम्मान प्राप्त किया।

मुसलमानों के आक्रमण और उसके बाद तिब्बतियों के आक्रमण से देश में अराजकता फैल गई। कुछ समय के लिए कश्मीर रिचन नामक तिब्बती राजा के अधीन रहा। कश्मीर की अव्यवस्थित अवस्था के फलस्वरूप तिब्बती आक्रमण अकबर ने १५८६ ई० में इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

कुमारजीव के जीवनचरित्र से प्रकट होता है कि अशोक से समय से ही कश्मीर बौद्धधर्म का केन्द्र रहा है। यह शैव धर्म के एक विशेष सम्प्रदाय का सांस्कृतिक भी केन्द्र रहा है, जो शंकर के अद्वैत दर्शन के निकट था। इसकी केन्द्र के रूप में अपनी श्रुतियाँ थीं जिन्हें शैवसूत्र कहते थे और जिनके कारण कश्मीर इसकी निजी विशेषताएँ प्रकट हुईं। इस सम्प्रदाय ने वसुगुप्त (८०० ई०) कल्लट, सोमानन्द, उत्पल आदि महान् लेखकों के समूह को जन्म दिया।

कश्मीर संस्कृत साहित्य का केन्द्र था। वहाँ का राजा मातृगुप्त (छठी सती ई०) स्वयं कवि था। भीमक ने पाणिनि के व्याकरण के नियमों का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए पद्य में रामायण की कथा लिखी। अवन्तिवर्मा (८५० ई०) की सभा में कवियों का प्रतिष्ठित वृन्द था। बौद्ध ग्रन्थ 'अवमानशतक' की प्रेरणा से शिवस्वामी ने 'कण्ठशाय्युदय' नामक महाकाव्य लिखा। रत्नाकर ने शैव दर्शन के विषयों पर लेखनी चलाई। अभिनन्दन ने सरल कविता में बाण की कादम्बरी को अनुदित किया। ग्यारहवीं सती प्रसिद्ध साहित्यिक प्रतिभा क्षेमेन्द्र के कारण प्रख्यात है। उसने गुणादय की महान् कृति बृहत्कथा को विस्मृति के गर्भ से बचाकर सरल पद्यात्मक प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया। उसने अवदान कल्पलता नामक कृति में अनेक बौद्ध कथाओं को सरल रूप में प्रस्तुत किया। उसने विष्णु के अवतारों, रामायण-महाभारत के कथानकों और काव्यशास्त्र के विषयों को लेकर बहुत-सी रचनाएँ कीं।

कश्मीर की अन्य साहित्यिक प्रतिभा 'कथासरित्सागर' का रचयिता सोमदेव (१०६३-१०८१ ई०) था।

कश्मीरी कवि कल्हण (१०६४ ई०) क्रमशः चोद, अणुहल्लपाटन और कल्पाणो के दरबारों में 'राजकवि' रहा।

अन्तर्गतत्वा कश्मीर राजतरंगिणी के लेखक कल्हण के कारण प्रसिद्ध है। यह संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

राजवंशी राजाओं के अधीन जिन्होंने १३७ वर्ष तक राज्य किया, सिन्ध भी एक स्वतंत्र स्थानीय राज्य था। अन्तिम राय राजा साहसी था जिसकी मृत्यु के बाद उसका ब्राह्मण मंत्री चच गद्दी पर बैठा, जैसा कि **सिन्ध** चचनामा से प्रकट होता है। उसका राज्य कश्मीर तक फैला था। सहसी के राज्यकाल में स्वतन्त्र-चाड़ सिन्ध में आया और उसने उसे शूद्र और बौद्ध बताया। चच का उत्तराधिकारी दाहिर मुसलमान आक्रमणकारी कासिम से लड़ता हुआ ७१२ ई० में मारा गया।

जैसा कि हम देख चुके हैं अशोक और समुद्रगुप्त, जो चन्द्रगुप्त और लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी की सन्तान था, के समय में नेपाल और भारत का सम्पर्क बना रहा है। १११ ई० के बाद शिलालेखों से ज्ञात **नेपाल** होता है कि नेपाल में क्रमशः किरात, सोमवंशी और सूर्यवंशी या लिच्छवि राजवंशों ने राज्य किया। ऐसा लगता है कि सातवीं शती में लिच्छवि राजा शिवदेव को उसके मंत्री अंशुवर्मा ने निकाल दिया और अपना संवत् जारी किया तथा तिब्बत का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। उसके उत्तराधिकारी भी अपने आपको लिच्छवि कहते थे। ८७९ ई० में नेपाल से तिब्बत का प्रभुत्व उठ गया और एक नया संवत् चालू हुआ। राजा गूणकाम-देव ने अपने ६० वर्ष के लम्बे राज्य में देश को समृद्ध और सम्पन्न बनाया। इसके बाद सोमेश्वर द्वितीय चालुक्य ने नेपाल पर आक्रमण किया। उनका राज्य बारहवीं शती तक रहा जब नेपाली सैनिक शिवदेव ने दक्षिण के आधिपत्य को समाप्त कर दिया।

भास्करवर्मा के राज्यकाल में असम भारत के साथ था। उसके बाद वहाँ के इतिहास में अव्यवस्था का युग आया। राजा ब्रह्मपाल और उसके पुत्र रत्नपाल के राज्यकाल में हालत सुधरी। रत्नपाल ने विस्तृत प्रदेशों **असम** पर विजय प्राप्त की और गुजरात, केरल, गौड़, दक्षिण (चालुक्य विक्रमादित्य ६ के राज्यकाल में) और बाहीक (पंजाब) तक को परास्त करने का श्रेय प्राप्त किया।

एक और राजवंश जिसने उस युग के इतिहास में प्रमुख भाग लिया मालवे का परमारवंश था जिसने नवीं से ग्यारहवीं शती तक राज्य किया। इस युग का प्रसिद्ध राजा हर्षोसिंह सीयक था जिसके रदूपाती नामक पुत्र **मालवा के** नरपति और मान्यसेन के राष्ट्रकूट राजा श्रीहर्ष को पराजित **परमार** किया जैसा कि घनपाल की माहललच्छी नामक कुति से प्रतीत होता है (९७२ ई०)।

उसका उत्तराधिकारी उस का पुत्र वाक्पति द्वितीय था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। एक साहित्य के ग्रन्थ में उसे केरल, चोल, कर्णाट, लाट (मध्य-गुजरात) और कलचुरि—चेदि राज्यों की विजय का श्रेय वाक्पति द्वितीय दिया गया है। किन्तु, एक चालुक्य शिलालेख के अनुसार, चालुक्य राजा तैलप २ (९९५ ई०) ने उसका वध किया।

अगला राजा उसका भाई सिन्धुराज था जिसे नवसाहसांक भी कहते थे। वह नवसाहसांकचरित का नायक है जिसमें कोसल, मूरलकेरल (जिससे चालुक्यों का बीज हो सकता है) आदि राज्यों पर उसकी विजयों का वर्णन है।

सिन्धुराज

उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र भोज था (१०१६-१०६५ ई०) जिसने ५५ वर्ष राज्य किया और सूदूर प्रदेशों में विजयें प्राप्त कीं। किन्तु बिल्हण ने विक्रमांक देवचरित में लिखा है कि चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय ने उस की राजधानी धारा की ध्वस्त किया। मेरुत्त ने अपने ग्रन्थों में लिखा है कि उसने अणहिलवाड के चालुक्य राजा भीम प्रथम को परास्त किया। उदयपुर के एक शिलालेख में चेदि, लाट और तुलुकों के विरुद्ध उसकी विजयों का वर्णन है।

भोज,

भोज ने भोज-सागर (उसके नाम की एक झील) और धारा में संस्कृत विद्यालय की स्थापना की जिसमें एक सरस्वती का मन्दिर भी था। उसने काव्यशास्त्र, वास्तु-शिल्प और ज्योतिष पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।

उसके बाद मालवा की शक्ति का ह्रास हो गया ↓

इस राज्य का संस्थापक गुर्जर जाति (चाप अथवा चापतकट) का नेता बनराज था जिसने लुटेरों का गिरोह इकट्ठा करके ७६५ ई० में इस राज्य की अणहिलवाड स्थापना की। उस के वंश ने ९६० ई० तक राज्य किया और चालुक्य (सोलंकी) वंश के मूलराज ने उसे निर्वासित किया।

मूलराज (९७४-९९५ ई०) ने अपने राज्य में कच्छ काठियावाड, लाट और अजमेर को मिलाया। उसकी सभा में विद्वान पण्डित रहते थे। उसने मन्दिर चालुक्य भी बनवाए। किन्तु ९९६ ई० में उसने आत्महत्या कर ली।

इस वंश का प्रसिद्ध राजा भीमदेव प्रथम (१०२२-१०६४ ई०) था। जब वह सिन्ध में युद्ध कर रहा था तब परमार राजा भोज ने उसकी राजधानी अणहिलवाड को लूट लिया। उसी समय महमूद गजनवी ने सोमनाथ को ध्वस्त किया और भीम को खण्डहाट के दुर्ग में भागने पर विवश किया। महमूद के लौट जाने के बाद उसने वापिस आकर

भीम प्रथम

सोमनाथ के मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया ।

जगला महारूपी राजा सिद्धराज था जिसने सोमनाथ की यात्रा की और इसकी पवित्रता को दृष्टि में रखते हुए यात्री-कर उड़ा दिया । उसने सामरिक विजय प्राप्त की और बीस वर्षों के युद्ध के बाद परमार राजा सिद्धराज नरयमाँ को परास्त किया और उसके पुत्र यशोवमाँ के राज्य-काल में राजधानी को लूटकर उसे एक पित्रे में बन्दी करके अनहिलवाड़ ले गया । उसके बाद से वह अवन्ति का राजा कहलाने लगा । उस समय के चन्देलराजा मयनवमाँ ने भी उसकी शक्ति का अनुभव किया । ११४३ ई० में उसका निधन हुआ । सिद्धराज जैन विद्वान हेमचन्द्र का आश्रयदाता था और अकबर के समान विभिन्न धर्मावलम्बियों में शार्वार्थ कराया करता था ।

उसके बाद कुमारपाल (११४३-११७२ ई०) गद्दी पर बैठा । उसने सौराष्ट्र और कोंकण तक युद्ध किए और सोमनाथ के मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया । उसने विद्वानों को आश्रय दिया । उसकी प्रवृत्ति जैनधर्म की ओर थी । उसका प्रधानमंत्री प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र था जिसने अभिधान चिन्तामणि की रचना की । वह एक पक्का जैन था और उसने अहिंसा की नीति अपनाई, पशुघात और बलिदान बन्द किए, निस्सन्तान विधवाओं की सम्पत्ति के जप्त होने के कानून को रद्द किया और सोमनाथ के मन्दिर को बढ़ाया ।

इस वंश का प्रवर्तक आनक पहिले राजा का मंत्री था । लवणप्रसाद के राज्य-काल में उसने चालुक्यों से उनके राज्य का उत्तरी भाग छीन लिया और सिहण बघेल के राज्यकाल में देवगिरि के मादवों को परास्त किया ।

उसका पौत्र विशालदेव (१२४३-६१ ई०) मादवों का शत्रु था । उसने तीन वर्ष लम्बे दुर्मिष में साहसपूर्वक अपनी प्रजा की रक्षा की । उसके राज्यकाल में गुजरात में बघेलों की शक्ति चरमसीमा पर पहुँची और उसके बाद मुसलमानों के आक्रमणों के अनन्तर पतन की ओर चल पड़ी ।

चन्देल इस राजवंश का संस्थापक नयूक (८३१ ई०) था ।

उसके पुत्र वाक्पति ने विजय तक अपने राज्य को बढ़ाया जो सजुराहो के बालपति शिलालेख के अनुसार उसका कोडा-गिरि बन गया ।

वाक्पति के बाद उसके पुत्र जयशक्ति (जिसके कारण चन्देल राज्य को जेजाक प्रकित कहते हैं) और विजयशक्ति ने राज्य किया ।

हर्ष एक प्रसिद्ध राजा था जिसने चाहमान राजकुमारी कंचुकी से विवाह

किया, राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय के विरुद्ध उसके गुर्जर प्रतिपक्षी को गद्दी पर बैठाया, और त्रिपुरी (तेवर) के कलचुरि राजा कोकिल के साथ, **हां** जिसने चन्देल राजकुमारी से विवाह किया था, मित्रता की।

यशोवर्मा (लगभग ९३०-९५४ ई०) ने अपने आक्रमण और विजय के फल-स्वरूप सम्राट् पद प्राप्त किया। गौड, कोशल, मालव, चेदि, गुर्जर और कश्मीर प्रदेश में उसकी सार्वभौम सत्ता थी। उसने राष्ट्रकूटों से कालि-
यशोवर्मा जर छीन लिया। एक शिलालेख में उसे महाराजाधिराज कहा गया है। पुष्पदेवी उसकी सम्राज्ञी थी।

खजुराहो का मन्दिर उसे खजुराहो (श्री खर्जूरवाहक) के विष्णु-मन्दिर के बनाने का श्रेय प्राप्त है जो कला और स्थापत्य का उत्तमनिदर्शन है।

सब से प्रसिद्ध चन्देल राजा उसका पुत्र घंग (लगभग ९५४-१००२ ई०) था। उसने कालिजर के अजेय दुर्ग का निर्माण कराया। शिलालेखों से पता चलता है कि उसके राज्य में काशी और प्रयाग शामिल थे। **घंग** खजुराहो के एक लेख में उसे सिंहल, कांची, आन्ध्र, कोशल, अंग, राड़ और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार राजा पर विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया गया है।

उसने अपने सम्राटपद को विद्या के प्रोत्साहन से अलंकृत किया। उसका मुख्य-मंत्री विद्वान् तार्किक गौतम अक्षपाद था। माघ कवि और राम कवि ने खजुराहो शिलालेख के कुछ भाग लिखे तथा गौरजह्व और यशपाल ने इसका उत्त्थान किया।

उसने शम्भु के कलापूर्ण मन्दिर जैसे मन्दिरों का निर्माण कराया।

उसने १०० वर्ष (शतदशतम्) की आयु भोगी।

विद्याधर घंग के बाद प्रसिद्ध राजा विद्याधर हुआ जिसने १०९० ई० तक राज्य किया।

उसने बहुत बड़ी सेना एकत्रित की जिसमें निजामुद्दीन के अनुसार ३६००० घोड़े, १,४५,००० पैदल और ३९० हाथी थे। इस सेना के साथ वह महमूद गजन-वी से लड़ा, जैसा कि कच्छपाघात और महोबा के शिलालेखों से ज्ञात होता है। पहिले उसने कन्नौज के देशद्रोही राजा राज्यपाल से लड़कर उसका वध किया क्योंकि उसने महमूद के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था। इससे उसके व महमूद के बीच संघर्ष हुआ किन्तु उसका कुछ नतीजा नहीं निकला।

अगला प्रसिद्ध राजा कीर्तिवर्मा (१०६०-११०० ई०) था। उसे कलचुरी राजा कर्ण ने सिंहासन से हटा दिया किन्तु बाद में उसने उसे हरा दिया। 'प्रबोधचन्द्रो-

कीर्तिवर्मा दय नामक नाटक में, जो उसके सामने अभिनीत हुआ था इस सैनिक विजय का उल्लेख मिलता है।

उसके प्रपौत्र महमवर्मा ने (११२८-६५ ई०) ने कलचुरी राजा को हराया और मालवे के परमार राजा को युद्ध में मारकर अपने वंश की कीर्ति को बढ़ाया।

अन्तिम प्रसिद्ध नरपति परमोद (११६५-१२०० ई०) था जो खीरतापूर्वक मुसलमान नेता कुतुबुद्दीन ऐबक से लड़ा और कालिंजर की संधि की। उसके बाद हम पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। यह हिन्दू शक्ति का अन्तिम केन्द्र था।

कलचुरिवंश (जिन्हें द्वैश्य भी कहते थे) का लम्बा इतिहास २४९ ई० में आरम्भ होता है। कलचुरि वंश की नई परम्परा कोकिल प्रथम ने जारी की जो चेदि के कन्नौज के मिहिरभोज और राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय का प्रति-कलचुरी इन्हीं था।

उसके उत्तराधिकारी लक्ष्मण (१५०-३५ ई०) ने उदोसा पर आक्रमण किया। वहाँ से कार्तीय नाग की मूर्ति लूट में प्राप्त करके उसे सोमनाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित किया और चालुक्य राजा विक्रमादित्य के साथ अपनी पुत्री का विवाह किया और इस प्रकार अपने वंश की कीर्ति को बढ़ाया।

राजा गानेयदेव (१०१५-४० ई०) ने बंगाल के राजा महोपाल के साथ संधि किया। यह संधि अगले नरपति कर्ण (१०४०-९० ई०) तक के काल तक चलता रहा किन्तु उसकी पुत्री यौवनश्री का विवाह विग्रहपाल

पतन तृतीय के साथ हो जाने से इसका समाधान हो गया। किन्तु उसे चन्देल राजा कीर्तिवर्मा और चालुक्यसोमेश्वर की शक्तियों का सामना करना पड़ा और फलतः उसकी शक्ति जर्जर हो गई। राज्य भी विपुल (पश्चिम) और रत्नपुर (पूर्व) की दो शाखाओं में बँट गया जिससे इसके पतन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।

वे प्रतीहारों के सामन्त थे। उनकी एक शाखा शाकम्भरी में थी। इसके राजा दुर्लभराज ने अपने प्रतीहार स्वामी वल्लभराज के साथ गौड के अभिमान में नाग चाहमान लिया।

प्रतीहारों के पतन के बाद चाहमान स्वतंत्र हो गये। विग्रहराज द्वितीय (१०३३ ई०) ने नर्मदा तक मुझ करके और चालुक्य और लाट को जीतकर अपनी शक्ति को बढ़ाया।

चाहमानों की शाखाएँ मन्डल (जोधपुर के निकट मंडोल) धौलपुर (धवलपुरी) और प्रतापगढ़ में राज्य करती थीं। धवलपुरी के राजा चण्डमहासेन की सभा में अरब सरदारों ने आश्रय लिया था।

शाकम्भरी के चाहमानों ने अपनी विजयों के फलस्वरूप उन्नति करके सम्राट-
 शाकम्भरी पर प्राप्त किया। उन्होंने मुल्तान महमूद और मातंगी
 (मलेखों) के विरुद्ध युद्ध किए।

बारहवीं शती में अजमेरा ने उज्जैन को लूटा और स्वतन्त्र किया।

विग्रहराज ६ (११५०-११६३ ई०) ने बहुत-सी विजयें प्राप्त करके, जिसका
 उल्लेख शिलालेखों में मिलता है, चाहमान शक्ति को बढ़ावा दिया। शिलालेखों में
 तोमर राजा अनंगपाल ने उसके चिल्लिका (दिल्ली) छीनने,
 विग्रहराज द्विसार जिले पर आक्रमण करने और पञ्जाब के राजन्धी राजा
 को हराने का जिक्र है। फलतः उसका राज्य सिन्धालिक पर्वत

से उदयपुर तक फैल गया। उसने हम्किेल नाटक की रचना
 की, जिसके कुछ अंश अजमेर में पत्थरों पर खुदे हैं। अजमेर की मस्जिद में उसके
 सम्मान में कवि सोमदेव द्वारा लिखित ललितविग्रहराज नामक नाटक भी खुदा
 हुआ है।

अगला सब से प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज तृतीय था, जिसने ११७८ ई० में राज्य
 आरम्भ किया। मुसलमानों ने उसे रावपिथौरा कहा है। वह चन्दबरदाई द्वारा
 लिखित 'पृथ्वीराज रासो' का और 'पृथ्वीराज विजय' (१२००
 ई०) नामक एक अन्य कृति का, जिसके कुछ अंश उपलब्ध हैं,
 नायक है।

उसने ११८२ ई० में चन्देल राजा परमदि को परास्त किया और ११८७ में
 गुजरात पर आक्रमण किया, जहाँ के राजा भीम द्वितीय ने उसके साथ संघ की।
 वह साहित्यिक दन्तकथाओं का पात्र है। ऐसी कथा मिलती है कि उसने कन्नौज
 के राजा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता को स्वयम्बर के उस समय उड़ा लिया, जब
 उसने उसकी प्रतिमा के गले में जयमाल डाल दी। किन्तु उसकी वास्तविक महत्ता
 कथाओं के बजाय मुसलमानों के विरुद्ध लड़ने में सन्निहित है। उसने सराई (सरावरी)
 के युद्ध में पहले गौरी को हराया, किन्तु अगले वर्ष उससे स्वयं हार काई और
 मारा गया।

इस वंश का संस्थापक वज्जरा माना जाता है जिसने ७२५ ई० के निकट बितौड़
 पर विजय प्राप्त की। ९७७ ई० के अतपुर के शिलालेख में २० गृहिणीय राजाओं
 का जिक्र है। वे प्रतिहारों के सामन्त थे और धातुपट्ट के राज्य-
 गृहिणीय काल में ९४३ ई० के लगभग उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त की।
 उसके पुत्र अस्तुट ने प्रतिहार-नरेश देवपाल की मार दिया।

परमार राजा मुंज के हमलों से गृहिणीय क्षीण हो गए और उनकी राजधानी
 बाघाट, जिसे 'मेदपाट (मेवाड़)' का गर्व' कहा गया है, स्थान हो गई। उस समय
 प्रा० भा०—१०

उनका राजा शतितकुमार था।

शाहियों का एक परिवार, जिसे अलबेकनी कनिष्क का वंशज समझता था, काबुल घाटी और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश में, नवी अली तक राज्य करता था।

इसके अन्तिम राजा लघतूरमान को ब्राह्मण मंत्री कालर ने शाही हटा कर ब्राह्मण शाहियों के एक नये वंश की स्थापना की।
(शाहिय) इनकी राजधानी उद्भाण्डपुर (अटक के निकट अंग्रहन्द) थी।

इस ब्राह्मण शाही राज्य का कश्मीर से गहरा संबंध था और उसके निवासियों को वहाँ आश्रय मिलता रहा। कल्लरा को राजतरंगिणी में कल्लिय शाही कहा गया है। उसका एक उत्तराधिकारी परमेश्वर शाही थी भीमदेव या जिसकी प्रतीति देहा कश्मीर की सम्राज्ञी बनी।

उत्तरी स्वात घाटी के एक शिलालेख से परममहाराज महाराजाधिराज श्री जयपालदेव नामक एक राजा का पता चलता है, जो पश्चिम में पूर्वी अफगानिस्तान और लघमान से पूर्व में सरहिन्द और दक्षिण में मुल्तान तक फैले राज्य की उपलब्धि के लिए प्रसिद्ध था। इस प्रकार वह भारत का सन्तरी था और उसने सुवक्तगीन के काल में जलालाबाद नामक स्थान पर मुसलमानों के आक्रमण का सामना किया। इस संकट की गन्ध पाकर उसने भारत के हिन्दू राजाओं को इसके विषय में संदेश भेजे। इस चेतावनी के फलस्वरूप ९९१ ई० में कन्नौज, चाहमान और चन्देल राजाओं ने सुवक्तगीन को रोकने के लिए एक संघ बनाया। किन्तु उसके स्थान पर उससे ज्यादा लड़ाकु महमूद गद्दी पर बैठा और उसने जयपाल को हरा कर पकड़ लिया। जयपाल ने अग्नि में कूद कर अपने सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राण दे दिए। उसके पुत्र आनन्दपाल ने उसके कार्य को सम्भाला और १००८ ई० में कन्नौज के राजा राज्यपाल और चन्देल राजा विद्याधर के साथ एक नवीन संघ बनाया। राष्ट्रीय संकट की चेतना इतनी बड़ी कि एक मुसलमान इतिहासकार के अनुसार सुदूर प्रान्तों में हिन्दू औरतों ने अपने रत्न बेच दिए और सोने के जेवर गलाकर इस धर्मपूज के लिए चन्दे इकट्ठे किए। बाद का इतिहास इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है।

इस युग में उत्तरी भारत में चन्देल, राजस्थानी और सोलंकी कला का विकास हुआ। खजुराहो की कला लगभग ३० शैव और वैष्णव मन्दिरों में उपलब्ध है। ये मन्दिर ९५० से १०५० तक चन्देल राजाओं के आदेश से बनवाये गए थे। ये उच्चकोटि के कलात्मक उभरे हुए खुदाई के काम की मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। खजुराहो महादेव के मन्दिर में देवताओं और महापुरुषों की ६५० से अधिक खुदी हुई

मूर्तियाँ हैं। मन्दिर में गर्भगृह के ऊपर छत, चोटी और शिखर पाये जाते हैं। १०० फुट ऊँचे शिखर वाला विरवनाथ का मन्दिर सजुराहो के भवनों में सर्वश्रेष्ठ है। इसकी छतें पर्वतों की चोटियों के समान दिखाई देती हैं। इसके खम्भों के शीर्षों और छतों की खुदाई का काम अत्यन्त कलात्मक है। अतुर्भुज का वैष्णव मन्दिर और इसकी साथ लगे पंचाक्षर भी ऐसे ही सुन्दर हैं।

१००० ई० तक राजपुताना और मध्यभारत में भी कला की बड़ी उन्नति हुई। यह उल्लेखनीय है कि इन २६ मन्दिरों की सामग्री से कुतुबमीनार का निर्माण हुआ। इसी प्रकार ५० अन्य मन्दिरों की सामग्री से अजमेर की मस्जिद के खम्भे बने हैं। इनमें खम्भों का प्रचुर प्रयोग मिलता है जिनमें सुन्दर खुदाई का काम मिलता है और जो संगमरमर की सुन्दर छतों की धारण करते हैं। एक अन्य कलाकेन्द्र सागर में एरण था जहाँ पाँचवीं से ग्यारहवीं शती तक के भवन मिलते हैं, जैसे, बृहन्मूल का पाषाणस्तम्भ और उत्तरगुप्त कालीन युग के बराह, नरसिंह और विष्णु के मन्दिर।

सोलंकियों ने १००० और १२०० ई० के बीच गुजरात में कला की एक नयी शैली चलाई। वस्तुपाल तेजपाल नामक दो प्रसिद्ध अन्वुओं ने, इटली के मेदिविकी तरह कला को आश्रय दिया। इस कला के सर्वश्रेष्ठ निदर्शन सोलंकी राजधानी पाटन (जणहिलवार) के निकट सुतक और केसर के मन्दिर हैं। इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ नमूने बड़ौदा और मोडेर के सूर्य-मन्दिर हैं जिनमें बहुत सुन्दर खुदाई का काम है। इसी समय का आबू पर्वत पर जैन शैली का संगमरमर का विमल का मन्दिर है। ऐसा ही एक और मन्दिर बारहवीं शती का सिद्धपुर का रुद्रमाल का मन्दिर है। इसी समय सोमनाथ का मन्दिर बना जिसे महमूद गजनवी ने १०२५ ई० में नष्ट किया और कुमारपाल ने फिर से बनवाया। लगभग १२३० ई० का आबू पर्वत पर तेजपाल का बनवाया जैन मन्दिर विमला मन्दिर की प्रतिरूपि है। इस काल में कीर्तिस्तम्भों का भी निर्माण हुआ, जैसे, चित्तौड़ का जयस्तम्भ जिसके आठ तल्ले हैं और उसके साथ लगे नगर के द्वार, तटाक और कुबे इत्यादि हैं।

ग्वालियर के किले पर तीन प्रसिद्ध मन्दिर हैं जिनमें सब से बड़ा सहस्रबाहु का मन्दिर (१०३०-९३ ई०) है।

तेरहवाँ अध्याय

दक्षिणी भारत

सातवाहनों के बाद दक्षिण की एकता नाष्ट हो गई और यह अनेक स्थानीय राज्यों में बँट गया। इनको मध्य, पश्चिमी और पूर्वी भागों में विभक्त किया जा सकता है।

मध्य भाग में वाकाटक, जिनका इतिहास लिखा जा चुका है, और नलों का राज्य था।

पश्चिमी दकन में भोज, चैकूटक, कलचुरि और राष्ट्रकूटों का राज्य था।

पूर्वी दकन में आन्ध्र, कलिग और दक्षिण कोसल और मेकल नामक राज्य थे।

आन्ध्र में आनन्द, सालकायन और विष्णुकुण्डी थे।

कलिग में पितुमकत, मायुर, वाशिष्ट और पूर्वी गंग थे।

दक्षिण कोसल और मेकल में शरभपुरीय, दक्षिण कोसल के पाण्डुवंशी और मेकल के पाण्डुवंशी राज्य करते थे।

इन स्थानीय राज्यों में से वादामी (बीजापुर) के चालुक्यों ने महत्व प्राप्त किया। उन्होंने दकन के बहुत बड़े भाग पर दो शताब्दियों तक (आठवीं शती के मध्य तक) राज्य किया और अपनी सार्वभौम सत्ता के अधीन इसकी एकता स्थापित की। उन्हें राष्ट्रकूटों ने हटा दिया किन्तु उनकी शाखाएँ पिष्टपुर के पूर्वी चालुक्यों, वेमलवाड़ के चालुक्यों और बाद में कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों के रूप

सार्वभौम
राज्य

में राज्य करती रही जिन्होंने दसवीं शती के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रकूटों को परास्त किया।

पहिले हम स्थानीय राज्यों की चर्चा करेंगे।

शिलालेखों से सीम नल राजाओं का पता चलता है, (१) महाराज भवत (भवयत) वर्मा, जिसे 'नलनृपवंश प्रसूत' कहा गया है, (२) स्कन्दवर्मा, जिसे कोरापूट के शिलालेख में उसका पुत्र बताया गया है और मध्य-दक्षिणी-भारत : नल यह कहा गया है कि उसने शत्रु द्वारा ध्वस्त पुष्करी नामक राजधानी को फिर से आबाद किया। इस शत्रु से चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा (५६७-५९७) का वीर्य होता है। इन राजाओं ने स्वयंमुद्राएँ जारी कीं, जिनसे और उनके लेखों से यह प्रकट होता है कि उनका राज्य बलार-जेपुर प्रदेश में था। कुछ चालुक्य शिलालेखों से पता चलता है कि नल-राज्य बेल्लारी और कुरनूल जिले तक था जहाँ नल-वाडी नामक वस्ती का पता चलता है।

एक वाकाटक शिलालेख से ज्ञात होता है कि बरार में भोजों (भोजकों) का राज्य था। वे अशोक और खारवेल के शिलालेखों में वर्णित भोजक हो सकते हैं।

कोंकण में गोवा में भी भोज जा वसे। उनकी राजधानी चन्द्र-पश्चिम-दक्षिणी-पुरी (चन्द्रोर) थी। गोवा से प्राप्त शिलालेखों में कुछ भोज राजाओं के नाम इस प्रकार मिलते हैं : देवराज (पंचम शती ई०), चन्द्रवर्मा, जिसने गोवा में महाविहार की स्थापना के लिए भूमि का अनुदान दिया, पृथ्वीमल वर्मा, कापालि वर्मा और अशक्ति।

ये अपराजत (उत्तरी कोंकण) के त्रिकूट पर्वत के निकट रहने के कारण त्रिकूटक कहलाते थे। इनके शिलालेखों से ज्ञात होता है कि कन्हरी से मुरत तक उनका राज्य था। उनकी मुद्राएँ गुजरात, कोंकण और निकटवर्ती विस्तृत मराठा प्रदेश में, जहाँ पहिले आभीरों का राज्य था, पाई जाती है। त्रिकूटक मुद्राएँ पश्चिमी क्षत्रपों की मुद्राओं के समूह की थीं और उन्हीं के प्रदेश में चलने के लिए जारी की गई थी। पहिले वे आभीरों के अधीन रहे किन्तु बाद में उनकी हटा कर स्वयं राजा बन गए और उनका २४८ ई० का संवत् प्रयुक्त करने लगे। एक शिलालेख से पता चलता है कि उन्होंने चौथी शती में अपने शत्रु कदम्ब राजा मयूरधर्मा से युद्ध किया। मुद्राओं और शिलालेखों से उनके दहस्तेन आदि राजाओं का पता चलता है। दहस्तेन ने अवमेध यज्ञ किया था। उसके पुत्र व्याघ्रसेन को 'अपराजत का राजा' कहा जाता है जिसने २४५ (४९३ ई०) में कृष्णागिरि में एक महाविहार बनवाया। गुजंर और कलचुरियों के आक्रमण के फलस्वरूप त्रिकूटक राज्य का अस्त हो गया।

इन्हें 'कटचुरि' और 'कलचुर्य' भी कहते हैं। इन्होंने छठी शती ई० में उत्तरी

महाराष्ट्र, गुजरात और मालवे के भागों में राज्य किया। शिलालेखों के अनुसार कलचुरि उन्होंने माहिष्मती के राजा सुवन्दु (४८६ ई०) ; अनूप के राजा स्वामिदास (३८६), भुलुण्ड (४२६) और रुद्रदास (४३६), को परास्त किया। दक्षिण से बादामी के चालुक्य और भड़ौच के गुर्जरी का जोर पड़ने से वे मालवा की ओर बढ़े और मैत्रकों के दबाव के फलस्वरूप जयलपुर प्रदेश में बस गए, जहाँ उन्होंने नवी शक्ती में अपनी शक्ति को बढ़ाया। उनमें कृष्णराज, उसका पुत्र शंकरगण और उसका पुत्र बुद्धराज (५९५ ई०) जैसे महान राजा हुए, जो शैवधर्मावलम्बी थे। कृष्णराज का बलाया 'कृष्णराज रूपक' नामक चाँदी का सिक्का, जिस पर उसे परममाहेश्वर कहा गया है, और शिवानंदी की आकृति अंकित है। उसके बाद भी बहुत दिनों तक नासिक, बम्बई, सालसट और उत्तरी चालुक्य राज्य में चलता रहा। शंकरगण बड़ा शक्तिशाली राजा था। उसने नासिक जिले, उत्तर में मालवा जिले, और सम्भवतः गुजरात और काठियावाड़ के कुछ भागों पर राज्य किया। उसने उज्जयिनी में अपने स्कन्धावार से दानपत्र जारी किए और भोजध्वज विषय (भोजध्वज अथवा नासिक) में भूमि दान की। बुद्धराज (५९५ ई०) ने वैदिश (विदिशा) से ३६० (६०८ ई०) में दानपत्र जारी किये। उसने पूर्वी मालवे को घशांक के सहचर देवगुप्त से जीता होगा, जिसने मौखरी और पुष्पभूति राजाओं का विरोध किया था। उसने ३६१ (६०९ ई०) में भक्तकच्छ विषय में एक और भूमि का अनुदान दिया। ६०२ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि चालुक्य राजा मंगलेश (५९७-६११ ई०) ने उससे युद्ध किया।

बड़ोदा में मकरी के शिलालेख से पता चलता है कि जब शंकरगण अपनी शक्ति की सीमा पर था तो महाराज नन्न, जिसे 'कटचुरीकूलवेण्णप्रदीप' कहा गया है, उसका मामन्त था। उसकी पत्नी का नाम ददा था और उसका पुत्र तरलस्वामी (५९४ ई०) था।

कलचुरियों को हैहय भी कहते थे। चालुक्य वितयादित्य (६८१-९६) ई० ने उनको हराने का दावा किया है और उसके पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-४६ ई०) ने हैहय राजकुमारियों से विवाह किया था।

राष्ट्रकूट नाम की व्युत्पत्ति प्रशासनिक है। इससे राष्ट्र अथवा सेना के अव्यस्य प्रारम्भिक का बोध होता है। बहुत-से चालुक्य और राष्ट्रकूट शिलालेखों में यह शब्द प्रशासनिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

राष्ट्रकूट वंश की शाखाएँ दक्षिणी भारत के विभिन्न भागों में राज्य करती थीं। ये बादामी के चालुक्यों के पतन तक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त रहीं। चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-४६ ई०) के अधीन सतारा रत्नागिरि प्रदेश के

राष्ट्रकूट थे। इनके अतिरिक्त सातवीं-आठवीं शताब्दी में मध्यप्रदेश में बेटूल और इल्लिचपुर जिलों में भी एक राष्ट्रकूट वंश राज्य करता था।

चालुक्य उपराजाओं के अधीन उत्तर-दक्षिणी भारत के कुछ भागों में एक बहुत शक्तिशाली राष्ट्रकूट वंश की शाखा विद्यमान थी जिसने अन्त में अपने स्वामी बादामी के चालुक्यों को त्तिकाल दिया।

दो स्थानीय राष्ट्रकूट वंश बहुत प्रसिद्ध हुए : (१) मानपुर के राष्ट्रकूट और बरार के राष्ट्रकूट। मिरासी के अनुसार मानपुर सतारा जिले का मान नामक स्थान है। वे मराठा देश के दक्षिणी भाग में राज्य करते थे। एक शिलालेख में इस वंश के प्रतिष्ठापक मानांक को विदभं और अश्मक का विजेता कहा गया है और कुन्तल, कदम्ब और कन्नड़ देश का प्रशासक (बंड देनेवाला) बताया गया है। बाद में मौर्य या नलों ने इन मानपुर के राजाओं को परास्त किया जो स्वयं चालुक्यों द्वारा पराजित हुए।

बरार में दुर्गराज द्वारा स्थापित एक अन्य राष्ट्रकूट वंश था जिसे चालुक्य पुलकेशी द्वितीय ने राष्ट्रकूट अथवा 'प्रान्त का राज्यपाल' नियुक्त किया था। उसने उसकी मृत्यु के उपरान्त अपने आप को स्वतंत्र घोषित किया था। उसके उत्तराधिकारियों की राजधानी अचलपुर (इल्लिचपुर) थी। एक शिलालेख में उनके बाद के राजा नम्र (६९०-७३५ ई०) का जिक्र है। लगभग इसी समय दन्तिवर्मा प्रथम ने, जो बाद में राष्ट्रकूटों की सम्राट-परम्परा का प्रतिष्ठापक सिद्ध हुआ, अचलपुर के राष्ट्रकूट वंश को हटा कर एक नये राजवंश का श्रीगणेश किया।

पूर्वी-दक्षिणी भारत : आन्ध्र

शिलालेखों से आनन्द क्षत्रि से उत्पन्न तीन आनन्दवंशी राजाओं का पता चलता है। वे ३७५-५०० ई० के कन्दर, अत्तिवर्मा और दामोदर वर्मा हैं। उन्होंने पल्लव राज्य से गुण्टूर प्रदेश को स्वतंत्र किया। एक शिलालेख में कन्दर को पृथ्वी-युवराट् और आन्ध्रपथ की पल्लव राजधानी धान्यकटक (अमरावती) का विजेता कहा गया है। अत्तिवर्मा (हस्तिवर्मा) ने हिरण्यगर्भ महापात नामक यज्ञ किया। अगले राजा दामोदरवर्मा ने कुछ संस्कृत और कुछ प्राकृत में मत्तेपद का दानपत्र लिखाया है। इसमें प्रकट होता है कि यह चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध के बाद का नहीं हो सकता, जब दक्षिणी शिलालेखों से प्राकृत ने संस्कृत को बहिष्कृत कर दिया। इस लेख में राजा को सम्पत्क-सम्बद्ध (बुद्ध) का उपासक बताया गया है। पल्लवों से उनके संपर्क के फलस्वरूप उनका पतन हो गया।

टालेमी ने उनकी सलबेनोई और उनकी राजधानी को 'वेनागूर' (वेंगीपुर) बताया है जो कृष्णा और गोदावरी के मध्य में स्थित था। वेंगी से उनके शासन-पथ

(चार्डर) जारी हुए। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने वेगी के राजा हस्तिवर्मा को परास्त किया। प्राकृत भाषा के एहोल से प्राप्त सालकादन एक शिलालेख में देववर्मा नामक एक राजा का जिक्र है जिसने समुद्रगुप्त से पहिले अश्वमेध यज्ञ किया। उसने पल्लवों से लोहा लिया और अपनी शक्ति को बढ़ाया पर अन्त में पल्लवों ने उसे कमजोर कर दिया। ताम्रपत्रों से इस वंश के निम्नलिखित राजाओं का पता चलता है : हस्तिवर्मा प्रथम, नन्दीवर्मा प्रथम, हस्तिवर्मा द्वितीय और स्कन्दवर्मा।

उनके शिलालेखों से उनके प्रथम सम्राट् विक्रममहेन्द्र (विक्रमेन्द्रवर्मा प्रथम) का पता चलता है। उसके बाद इस वंश की शक्ति और महानता का निर्माता १ विष्णुकुण्डी- माधववर्मा प्रथम जनाश्रय (५३५-८५ ई०) गद्दी पर आया। वंश उसने ११ अश्वमेध, १००० अग्निष्टोम और हिरण्यगर्भ महादान नामक यज्ञ किये। वह एक विद्वान् राजा था और उसे 'जनाश्रयी छन्दोविचिति' नामक छन्दश्ग्रन्थ की रचना का श्रेय प्राप्त है। ऐसा लगता है कि उसके और गोदावरी राजा ईशानवर्मा के मध्य एक संघर्ष हुआ जिसमें ईशानवर्मा ने ५५३ ई० में आन्ध्र राजा को परास्त करने का दावा किया है। उसने वाकाटक राजकुमारी से विवाह किया। उसके उत्तराधिकारी इन्द्रवर्मा ने (५९०-६२० ई०) विजयापट्टम तक, जहाँ उसने एक गाँव दान किया, के विस्तृत प्रदेश को जीत लिया। वह अपने दान, विद्या के विस्तार और विद्यालयों की स्थापना के लिए प्रसिद्ध था। इन्द्राधिराज के नेतृत्व में बने पूर्वी राजाओं के एक संघ ने उसे परास्त किया और उसकी विजय की प्रगति को रोक दिया। उसके उत्तराधिकारी विक्रमेन्द्रवर्मा तृतीय ने उसकी आक्रमक विदेशी नीति को जारी रखा। फलतः चालुक्य पुलकेशी द्वितीय ने उस पर भारी आक्रमण किया और कुनाल झील (कोल्लेर) के पास उसके दुर्ग को जीत लिया, साथ ही पिष्टपुर के राज्य और विजयापट्टम से नेलोर तक के समुद्रतट की पट्टी को अपने राज्य में मिला जिना, जैसा कि ६३४ ई० के एहोल अभिलेख से ज्ञात होता है। इस प्रकार विष्णुकुण्डी राजाओं ने वेगी का प्रदेश चालुक्यों के हवाले कर दिया। अपनी शक्ति के शिखर पर पहुँच कर उसने विजयापट्टम, गोदावरी, कृष्णा और गुण्टूर तक के विशाल प्रदेश पर राज्य किया।

सारखेल और उसके चेदि राज्य के बाद कलिंग, जिसमें कृष्णा और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश शामिल था, बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, जिनके शासकों को समुद्रगुप्त ने परास्त किया। उसकी प्रयाग प्रशस्ति में २ कलिंग कोट्टूर, पिष्टपुर, एरण्डपल्ल और देवराष्ट्र का उल्लेख मिलता है। बाद के कुछ शिलालेखों में पिष्टपुर की पहचान पाँठपुरम

और मेकल

आषा सातवाहन राजा के राज्यकाल में, जिसे गौतमीपुत्र गज श्रीशातकर्णी माना जाता है, दूसरी शती ई० में एक विहार में रहता था। चौथी शती ई० में कोसल के राजा महेन्द्र को समुद्रगुप्त ने परास्त किया। इसके बाद इन राजाओं ने गुप्तसंस्कृत का प्रयोग किया और गुप्त राजाओं की मुद्राओं का अनुकरण किया और इस प्रकार गुप्त सम्राटों के मित्रों जैसा व्यवहार किया। २८३ (६०१ ई०) के एक दानपत्र से भीमसेन द्वितीय नामक एक राजा का पता चलता है।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद शूर नामक राजा ने एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा की। यह वंश कोसल, मेकल के शरभपुत्रीय पाण्डुवंश आदि का समकक्ष था।

'शरभपुत्रीयों' की राजधानी रावपुर जिले में सम्मलपुर अथवा तिरपुर (श्रीपुर) नामक सगरी मानी जाती है। राजा शरभ सम्भवतः गोपराज से संबंधित था, जो अपने गुप्त स्वामी भानुगुप्त के साव ५१० ई० में एरण में ठूणों से लड़ता हुआ मारा गया। शिलालेखों से उन के कई राजाओं का पता चलता है : प्रसन्नमात्र, मानमात्र, दुर्गेराज अथवा प्रवरराज, जिसे पाण्डुवंश के राजा तीवर ने, जिसने अपने आगको अपनी मुद्राओं पर 'कोसलाधिपति' और 'परमवैष्णव' कहा है तथा जो विष्णुकुण्डी माधववर्मा प्रथम (५३५-८५ ई०) और मौलरी सूर्यवर्मा (५५३ ई०) का समकालीन माना जाता है, निकाल बाहर किया। उसका कोई पुरखा उदयन था। उसके उत्तराधिकारियों में एक हर्षगुप्त था जिसने मौलरी ईशानवर्मा के पुत्र और राज्यपाल सूर्यवर्मा की पुत्री वासुदा से विवाह किया था। उसके पुत्र बालार्जुन का राज्यकाल लम्बा रहा और उसने अपने सत्ताव्रतवर्ष में एक शिलालेख जारी किया। शक्तिशाली चालुक्य पुलकेशी द्वितीय के समकालीन होने के कारण उसे उसके आक्रमण का आवात-सहता पड़ा। बालार्जुन के बाद नलों ने और बाद में सोमवंशियों ने इस परिवार का अन्त किया।

पाण्डुवंशियों की एक शाखा मेकल (अमरकण्टक) में विद्यमान थी। बधेल-खण्ड से प्राप्त एक ताम्रपट्ट में इस वंश के बहुत से राजाओं जैसे नागवल और भरतवल आदि का उल्लेख है। जिन्होंने परम 'माहिदेवर' 'परमब्रह्मण्य' 'परम-गुप्तेवताधिदैवत्' आदि विशेष बड़ी-बड़ी उपाधियों का प्रयोग किया। शुक में वे गुप्तसम्राटों के अवीन थे किन्तु बाद में स्वतंत्र हो गए। फिर वे वाकाटक राजाओं के मातहत हो गए और ईसा की पाँचवीं शती में नरेन्द्रसेन ने कोसल, मेकल और मालव पर अपने प्रभुत्व की घोषणा की।

अब हम उन वंशों के इतिहास का वर्णन करेंगे जिन्होंने अपनी विजयों से सम्राटपद प्राप्त किया। इतमें (१) बादामी के प्रारम्भिक पश्चिमी चालुक्य जिन्होंने

सावंभौस

शक्तिपति

दो शताब्दियों (छठी से आठवीं शती) तक राज्य किया, (२) राष्ट्रकूट जिन्हें, दो शताब्दियों के राज्य के उपरान्त दसवीं शती में चालुक्य वंश की एक अन्य शाखा ने हटा दिया, और (३) कल्याणी के उत्तरकालीन पश्चिमी चालुक्य प्रसिद्ध हैं। इसी बीच एक तीसरे चालुक्य वंश ने भी, जिसे पिष्टपुर के पूर्वो चालुक्य कहते हैं, सातवीं शती में दक्षिणी भारत के अन्य भागों पर राज्य किया।

पश्चिमी चालुक्य वंश का इतिहास पुलकेशी प्रथम सत्याश्रय रणविक्रम (५६५-६६ ई०) से प्रारम्भ होता है, जिसने अश्वमेध और अन्य यज्ञ किये और

वातापी (वावामी) के दुर्ग की स्थापना की। इसके बाद पश्चिमी चालुक्य :

उसका पुत्र कीर्तिवर्मा (५६६-५९७ ई०) गद्दी पर आया, पुलकेशी द्वितीय

जिसे एहोल के तथा अन्य शिलालेखों में नलों, बनवासी के कदम्बों और कोंकण के मौर्यों जैसी प्रतिपक्षी शक्तियों की कालरात्रि कहा गया है। उसका उत्तराधिकारी उसका भाई मंगलेश (५९७-६१० ई०) था, जिसने करचूरी (कलचूरी) को परास्त किया और रेवतीद्वीप (गोंवा द्वीप) पर अधिकार करके अपने पुत्र इन्द्रवर्मा को वहाँ का प्रशासक नियुक्त किया। उसके बाद मंगलेश और कीर्तिवर्मा प्रथम के पुत्र पुलकेशी में गृहयुद्ध छिड़ गया जिसमें मंगलेश मारा गया। पुलकेशी ने ६१० और ६४२ ई० के बीच राज्य किया। गृहयुद्ध ने स्वार्थीय विद्रोहों को प्रोत्साहन दिया जिन्हें पुलकेशी ने दबा दिया और दिग्विजय आरम्भ कर दी। उसने (१) कदम्ब और उनकी राजधानी बनवासी, (२) मैसूर के गंग और आलूप, और (३) कोंकण के मौर्यों और उनकी राजधानी पुरी (एलीफेन्टा), जिसे उसने अपनी सीसेना से परास्त किया, और (४) लाट, (५) मालव, और (६) गुजरात को पराजित किया, जैसा कि उसकी एहोल प्रशस्ति में लिखा हुआ है। यह उसके इतिहास जानने का प्रमुख साधन है और इसे अपने को भारवी और कालिदास के समान समझने वाले कवि रविकीर्ति ने पञ्चवद्ध किया था। उसके बाद, उत्तराणव और दक्षिणाणव के दो शक्तिशाली अधिपतियों और परमेश्वरों, हर्ष और पुलकेशी द्वितीय, में बिन्ध्य और रेवा के बीच युद्ध हुआ जिसमें हर्ष हार गया। कुछ विद्वान् मानते हैं कि इस संघर्ष का कारण पुलकेशी की हर्ष के शत्रु गुजरात परपति दद द्वितीय के साथ संधि करना था, जिसने बलभी के राजा धुवसेन द्वितीय के आक्रमण के विरुद्ध अपनी सुरक्षा का उपाय सोचा। चूंकि दद का काल लगभग ६२९ ई० है इसलिए इस संघर्ष की तिथि इसके बाद की होनी चाहिए। ६३४ ई० की एहोल-प्रशस्ति में इस युद्ध का जिक्र है किन्तु ६३० ई० के लोहनेर के दानपत्र में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए इसे ६३० और ६३४ के बीच में रखना उचित है।

और मेकल आद्य सातवाहन राजा के राज्यकाल में, जिसे गौतमीपुत्र यश श्रीशतकर्णी माना जाता है, दूसरी शती ई० में एक बिहार में रहता था। चौथी शती ई० में कोसल के राजा महेन्द्र को समुद्रगुप्त ने परास्त किया। इसके बाद इन राजाओं ने गुप्तसंवत् का प्रयोग किया और गुप्त राजाओं की मुद्राओं का अनुकरण किया और इस प्रकार गुप्त सम्राटों के मित्रों जैसा व्यवहार किया। २८३ (६०१ ई०) के एक दानपत्र में भीमसेन द्वितीय नामक एक राजा का पता चलता है।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद शूर नामक राजा ने एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा की। यह वंश कोसल, मेकल के शरमपुत्रीय पाण्डुवंश आदि का समकक्ष था।

'शरमपुत्रीयों' की राजधानी रायपुर जिले में सम्मलपुर अथवा सिरपुर (श्रीपुर) नामक नगरी मानी जाती है। राजा शरम सम्भवतः गोपराज से संबंधित था, जो अपने गुप्त स्वामी भानुगुप्त के साथ ५१० ई० में परग में हूणों से लड़ता हुआ मारा गया। शिलालेखों में उन के कई राजाओं का पता चलता है : प्रसन्नमान, मानमान, दुर्गराज अथवा प्रवरराज, जिसे पाण्डुवंश के राजा तीवर ने, जिसने अपने जापकी अपनी मुद्राओं पर 'कोसलाधिपति' और 'परमवैष्णव' कहा है तथा जो विष्णुकुण्डी माधववर्मा प्रथम (५३५-८५ ई०) और मोसरी सूर्यवर्मा (५५३ ई०) का समकालीन माना जाता है, निकाल बाहर किया। उसका कोई पुरखा उदयन था। उसके उत्तराधिकारियों में एक हर्षगुप्त था जिसने मोसरी ईशानवर्मा के पुत्र और राज्यपाल सूर्यवर्मा की पुत्री वासुदा से विवाह किया था। उसके पुत्र बालार्जुन का राज्य लम्बा रहा और उसने अपने सत्ताधनवें वर्ष में एक शिलालेख जारी किया। शक्तिशाली चालुक्य पुलकेशो द्वितीय के समकालीन होने के कारण उसे उसके आक्रमण का आपात सहना पड़ा। बालार्जुन के बाद नारण ने और बाद में सोमवंशियों ने इस परिवार का अन्त किया।

पाण्डुवंशियों की एक शाखा मेकल (अमरकण्टक) में विद्यमान थी। वधेल-खण्ड से प्राप्त एक ताम्रपट्ट में इस वंश के बहुत से राजाओं जैसे नामयल और भरतयल आदि का उल्लेख है। जिन्होंने परम 'माहेश्वर' 'परमब्रह्मण्य' 'परमसुखदेवताधिदेवत्' आदि विशेष बड़ी-बड़ी उपाधियों का प्रयोग किया। शुरु में वे गुप्तसम्राटों के अधीन थे किन्तु बाद में स्वतंत्र हो गये। फिर वे बाकायक राजाओं के मातहत हो गये और ईसा की पाँचवीं शती में नरेन्द्रसेन ने कोसल, मेकल और मालव पर अपने प्रभुत्व की घोषणा की।

अब हम उन वंशों के इतिहास का वर्णन करेंगे जिन्होंने अपनी विजयों से सम्राटपद प्राप्त किया। इनमें (१) बादामी के प्रारम्भिक पश्चिमी चालुक्य जिन्होंने

सावंभौम
शक्तिर्षा

दो शताब्दियों (छठी से आठवीं शती) तक राज्य किया, (२) राष्ट्रकूट जिन्हें, दो शताब्दियों के राज्य के उपरान्त दसवीं शती में चालुक्य वंश की एक अन्य शाखा ने हटा दिया, और (३) कल्याणी के उत्तरकालीन पश्चिमी चालुक्य प्रसिद्ध है। इसी बीच एक तीसरे चालुक्य वंश ने भी, जिसे पिष्टपुर के पूर्वी चालुक्य कहते हैं, सातवीं शती में दक्षिणी भारत के अन्यभागों पर राज्य किया।

पश्चिमी चालुक्य वंश का इतिहास पुलकेशी प्रथम सत्पात्र्य रणविक्रम (५३५-६६ ई०) से प्रारम्भ होता है, जिसने अश्वमेध और अन्य यज्ञ किए और और वातापी (वादापी) के दुर्ग की स्थापना की। इसके पश्चिमी चालुक्य : बाद उसका पुत्र कीर्तिवर्मा (५६६-५९७ ई०) गद्दी पर पुलकेशी द्वितीय आया, जिसे एहोल के तथा अन्य शिलालेखों में नलों, बनवासी के कदम्बों और कोंकण के मौर्वी जैसी प्रतिपक्षी शक्तियों की कालराशि कहा गया है। उसका उत्तराधिकारी उसका भाई मंगलेश (५९७-६१० ई०) था, जिसने कर्चुरी (कलचुरी) को परास्त किया और रेवतीद्वीप (मोवा द्वीप) पर अधिकार करके अपने पुत्र इन्द्रवर्मा को वहाँ का प्रशासक नियुक्त किया। उसके बाद मंगलेश और कीर्तिवर्मा प्रथम के पुत्र पुलकेशी में गृहयुद्ध छिड़ गया जिसमें मंगलेश मारा गया। पुलकेशी ने ६१० और ६४२ ई० के बीच राज्य किया। गृहयुद्ध ने स्थानीय विद्रोहों को प्रोत्साहन दिया जिन्हें पुलकेशी ने दबा दिया और दिग्विजय आरम्भ कर दी। उसने (१) कदम्ब और उनकी राजधानी बनवासी, (२) मैसूर के गंग और आलूप, और (३) कोंकण के मौर्वी और उनकी राजधानी पुरी (एलीफेन्टा), जिसे उसने अपना मोतेना से परास्त किया, और (४) लाट, (५) मालव, और (६) गुर्जरा को पराजित किया, जैसा कि उसकी एहोल प्रशस्ति में लिखा हुआ है। यह उसके इतिहास जानने का प्रमुख साधन है और इसे अपने को भारवी और कालिदास के समान समझने वाले कवि रविकीर्ति ने पद्यबद्ध किया था। उसके बाद, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के दो शक्तिशाली अधिपतियों और परमेश्वरों, हर्ष और पुलकेशी द्वितीय, में विजय और रेवा के बीच युद्ध हुआ जिसमें हर्ष हार गया। कुछ विद्वान् मानते हैं कि इस संघर्ष का कारण पुलकेशी की हर्ष के दाम्पत्य गुर्जर तरपति ददा द्वितीय के साथ संधि करना था, जिसने बलभी के राजा धुवसेन द्वितीय के आक्रमण के विरुद्ध अपनी सुरक्षा का उपाय सोचा। चूँकि ददा का काल लगभग ६२९ ई० है इसलिए इस संघर्ष की तिथि इसके बाद की होनी चाहिए। ६३४ ई० की एहोल-प्रशस्ति में इस युद्ध का जिक्र है किन्तु ६३० ई० के स्लोहनेर के दानपत्र में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए इसे ६३० और ६३४ के बीच में रक्तना उचित है।

तब पुलकेशी ने पूर्वी दक्षिणी भारत की ओर ध्यान दिया और कोसल (पाण्डु-वंशी), कलिङ्ग (गंग), पिण्डपुर के नरपति और इसके दक्षिण में विष्णुकुण्डी विक्रमेन्द्रवर्मा तृतीय और पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा को परास्त किया और उसके विरुद्ध चोल, पाण्ड्य और केरलों से मित्रता की। अतः लोहमेर के दानपत्र में उसे 'पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का स्वामी' कहा गया है। उसने अपने भाई कुञ्ज विष्णु-वर्धन को पूर्वी दक्षिणी भारत का राज्यपाल नियुक्त किया जहाँ उसके पूर्वी बालुष्य नामक वंश ने १०७० ई० तक तीन शताब्दी-पर्यन्त राज्य किया। इस प्रकार पुल-केशी एक बड़े साम्राज्य का अधिपति बन गया जिसमें महाराष्ट्र, कोंकण और कर्णाटक के प्रदेश शामिल थे।

उसकी विजय-प्रगति आपत्ति में परिणत हुई उसके पल्लव प्रतिद्वन्द्वी ने बार-बार उसे परास्त किया, उसकी राजधानी को लूटा और ६४२ ई० में उसे मार कर 'वातापीकोण्ड' की उपाधि धारण की।

उसकी ख्याति भारत के बाहर भी पहुँची। मुसलमान इतिहासकार तिबरी ने लिखा है कि ईरान के राजा ख़ुसरो द्वितीय ने ६२५ ई० में प्रमेश-परमेश्वर, जो शिलालेखों के अनुसार पुलकेशी द्वितीय का दूसरा नाम था (परमेश्वर-अपर-नामधेय), नामक भारतीय राजा की सभा से आए हुए एक दूतमण्डल का स्वागत किया। अजन्ता की गुफा के एक चित्र में पुलकेशी द्वितीय को ईरानी दूतमण्डल का स्वागत करते चित्रित माना जाता है।

पुलकेशी के बाद बादामी और दक्षिणी प्रदेशों पर पल्लवों का अधिकार हो जाने, उसके पुत्रों में गृहयुद्ध छिड़ने और उसके राज्यपालों के विद्रोहों से राज्य में अस्थिरता मच गई। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसके पुत्र आदित्यवर्मा और चन्द्रादित्य कुछ क्षेत्रों में स्वतंत्र राजा की हैसियत से राज्य करने लगे। अन्त में ६५५ ई० में उसका पुत्र

विक्रमादित्य

प्रथम

विक्रमादित्य प्रथम सफल हुआ। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों, विशेषतः पल्लवों को, उनके तीन राजाओं से सुदीर्घ संघर्ष के बाद, परास्त करके, उनकी राजधानी कांची को लूटकर, और चोल, पाण्ड्य और केरल में अपनी शक्ति का सिक्का बँटा कर अरब सागर, हिन्दसागर और बंगाल की खाड़ी के तीन समुद्रों से आवेष्टित प्रदेश का आधिपत्य प्राप्त किया। इन सब विजययात्राओं में उसके वीर पुत्र और पौत्र विनयादित्य और विजयादित्य ने बराबर उसका साथ दिया। बाद में उसे पल्लव-राजा परमेश्वरवर्मा प्रथम के आक्रमण का सामना करना पड़ा जिसने उसे लाखों सैनिकों की सेना से हराकर वातापी पर अधिकार कर लिया। किन्तु यह आपत्ति क्षणिक सिद्ध हुई। एक शिलालेख के अनुसार उसने ६७१-७४ के बीच में फिर आक्रमण प्रारम्भ किया, कांची के निकट डेरा डाला और कावेरी और चोल राजधानी

तक बढ़ता चला गया। उसी समय उसके भाई घराध्य जयसिंहवर्मा ने, जो लाट (गुजरात) का राज्यपाल था और जिसकी राजधानी नवसारी (नवसारी) थी, माही और नर्मदा के बीच के प्रदेश पर राज्य करने वाले राजा वज्जड को हराया जिसे मैत्रक नरपति शिलादित्य (३६२-८४ ई०) माना जाता है।

अगला राजा उसका प्रियपुत्र विजयादित्य था जिसे, उसके शिलालेख दक्षिण (विजयादित्य) में पल्लव, चोल, पाण्ड्य, केरल और अन्य सिंहल तक के राज्यों (६८१-९६२ ई०) पर विजय प्राप्त करने का श्रेय देते हैं। इसने अपने पुत्र विजयादित्य के साथ उत्तरापथ में अभिषेक किया और वहाँ मर गया।

उसके ७३० ई० के उच्छल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने कांची (विजयादित्य) पर आक्रमण करके वहाँ के राजा परमेश्वरवर्मा द्वितीय से ६९६-७३३ ई०) कर प्राप्त किया।

विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-४५ ई०)

विजयादित्य के बाद उसका 'प्रियपुत्र' विक्रमादित्य द्वितीय गद्दी पर बैठा जिसने पल्लवों के विपरीत अपने वंशानुगत संघर्ष की जारी रखा और उनकी राजधानी कांची पर एकदम आक्रमण किया। वहाँ से राजा नन्दिभोतवर्मा (नन्दिवर्मा द्वितीय) भाग गया। शबरराजा उदयन, निषादराजा पृथ्वीव्याघ्र और गंगराजा श्रीपुरुष उसके सहायक थे। उसने चोल, पाण्ड्य, केरल, कलम्र आदि दक्षिण भारतीय राज्यों पर भी आक्रमण किया। उसके उत्तरी राज्यपाल अविमज्जनायम पुलकेशी ने अरबों के आक्रमण को विफल किया और 'अनिवर्तक-निवर्तमित्' की उपाधि धारण की; किन्तु लाट पर राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने अधिकार करके चालुक्य राज्य को वहाँ से समाप्त कर दिया।

कीर्तिवर्मा द्वितीय (७४६-७५७ ई०)

वह अपने पिता का 'प्रियपुत्र' था। उसे शक्तिशाली राष्ट्रकूटवंशीय राजा दन्तिदुर्ग ने हरा दिया। दन्तिदुर्ग ने ७४२ ई० के अपने एलोरा के दानपत्र में अपने चालुक्य स्वामी का उल्लेख नहीं किया है। ७५४ ई० के उसके सामनपत्र के दानपत्र में स्पष्टतः इस बात का उल्लेख है कि उसने अपने चालुक्य स्वामी और उसकी कर्णोटक सेना को हराया और पल्लव राजा नन्दिवर्मा द्वितीय को भी परास्त किया। कृष्ण प्रथम ने राष्ट्रकूट आधिपत्य को पूरा किया और राहुण (कीर्तिवर्मा द्वितीय) को हरा कर 'चालुक्य' वंश के खज और सोभाग का अपहरण किया।

चालुक्य वंश के पतन का कारण पल्लवों के साथ उनका सुदीर्घ संघर्ष था, जिससे उनके साधन क्षीण हो गये थे।

विष्णुवर्धन ६१७ ई० में सतारा और नासिक के बीच के प्रदेश में अपने बड़े

भाई पुलकेशी द्वितीय का राज्यपाल था, जैसा कि सत्तारा के दानपत्र और 'अवन्ति
 पुर्वी चालुक्य : सुन्दरी कचाचार' नामक कृति से प्रकट होता है। तब ६३१ ई०
 विष्णुवर्धन से पुलकेशी ने उसे विजयापट्टम और नेलोर के बीच के नव-
 प्रथम विजित तटवर्ती प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। इसके
 बाद वह स्वतंत्र हो गया और उसने पूर्व चालुक्यों के पृथक् राजवंश की स्थापना
 की। उसके दानपत्रों से प्रतीत होता है कि पिष्टपुर और विजयापट्टम के बीच में
 उसका राज्य था। उसके उत्तराधिकारियों के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसने
 गुवराज की हैसियत से १८ वर्ष राज्य किया और ६१५ से ६३३ तक वह राजा-
 पद पर रहा।

विष्णुवर्धन प्रथम के बाद उसका पुत्र जयसिंह (प्रथम) पृथ्वीवल्लभ गद्दी
 पर बैठा और उसने ६६३ ई० तक ३० वर्ष राज्य किया। उसके बाद बहुत-से प्रमुख
 उसके राजाओं का राज्य रहा। विष्णुवर्धन द्वितीय के राज्यकाल में
 उत्तराधिकारी पृथ्वीव्याघ्र नामक एक निषाद राजा ने नेलोर के निकटवर्ती
 दक्षिणी प्रदेश पर अधिकार कर लिया किन्तु, कांची के नन्दि-
 चर्मा द्वितीय नामक पल्लव नरपति ने उसे वहाँ से निकाल दिया। इस वंश का अगला
 राजा विजयादित्य प्रथम (७४६-६४ ई०) था, जिसके राज्यकाल में इस पर
 राष्ट्रकूटों का संकट छाया, जिन्होंने पहिले ही पश्चिमी चालुक्यों का अन्त कर दिया
 था। किन्तु भाग्य ने उसके उत्तराधिकारी विजयादित्य द्वितीय नरेन्द्रगुवराज
 (७९९-८४३ ई०) का साथ दिया और उसने अपने पड़ोसी सत्रुओं को परास्त
 करके राष्ट्रकूटवंशीय गोविन्द तृतीय की सहायता की माचना की। उसके उत्तराधि-
 कारी विजयादित्य तृतीय (८४४-८८ ई०) ने राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय को
 हराकर उसकी राजधानी मान्यखेट (मालखेड़) को लूट लिया। वह एक राजा से
 लड़ता हुआ मारा गया जिसे चोलवंशीय भंगी माना जाता है। अगले राष्ट्रकूट
 राजा अमोघवर्ध (८१४-७७ ई०) ने उसे समर्पण करने पर विवश किया, किन्तु
 भीम प्रथम (८८८-९१८ ई०) ने फिर वंश की प्रतिष्ठा को समुन्नत किया।

उसका उत्तराधिकारी जम्भ विष्णुवर्धन यष्टया जिसके संबंधियों और सामन्तों
 ने राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय से मिलकर उसके विरुद्ध षडयंत्र रचा और सिंहासन के
 लिए बहुत-से बनावटी दावेदार खड़े किए। एक ऐसे ही दावेदार युद्धमल्ल ने सिंहा-
 सन पर अधिकार किया। भीम तृतीय (९३४-४५ ई०) ने स्थिति को सम्भाला,
 सिंहासन पर अधिकार करनेवाले का वध किया, विद्रोही पड़ोसियों को परास्त
 किया और राष्ट्रकूट गोविन्द पंचम को हराया। किन्तु उसके तुरन्त बाद
 गिरावट आई। ९७३ से १००३ तक अशान्ति का युग था और चोलों के आक्रमण से गड़-
 बढ़ी फैल गई। किन्तु शक्तिचर्मा (१००३-१५ ई०) के राज्यकाल में, जिसने अपनी

मुद्राएँ जारी कीं, स्थिति अच्छी रही। उसका भतीजा विष्णुवर्धन सप्तम, जिसने १०२२ से ६३ तक राज्य किया, चोलराजा का पौत्र था। यह बाद में राजराज प्रथम कहलाया। उसके बाद उसका पुत्र गद्दी पर आया जो चालुक्य की अपेक्षा चोल अधिक था। क्योंकि तीन पीढ़ियों तक दोनों राजवंशों के वैवाहिक संबंध बहुत घनिष्ठ हो चले थे। इस सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक उसका नाम कुलोत्तुंग चोलदेव (१०६३-१११८ ई०) है। वस्तुतः 'विक्रमादित्यवर्चराज' नामक साहित्यग्रन्थ में पूर्वी चालुक्य राजा को स्पष्टतः चोल राजा कहा गया है। किन्तु पश्चिमी-चालुक्यों और चोलों के सम्बन्ध सुद्धमय बने रहे। पश्चिमी चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ ने चोल राजधानी पर आक्रमण किया। इस घटना का अन्त परम्परागत पद्धति के अनुसार विक्रमादित्य और वीर राजेन्द्र चोल की पुत्री के विवाह द्वारा हुआ। किन्तु यह शान्ति क्षणिक रही यद्यपि विक्रमादित्य अपने साले परकेसरी अचिराजेन्द्र को चोल राजसिंहासन पर बैठा कर इसे सुद्ध करना चाहता था। इससे चोल-चालुक्य सम्बन्धों के इतिहास में एक रोचक घटना घटी। पूर्वी चालुक्य राजा राजीव (राजेन्द्र चोल-कुलोत्तुंग चोलदेव) ने विक्रमादित्य के भाईसोमेव्वर द्वितीय से पड़पंज करके, उसके बैठाए हुए परकेसरी की चोल राजसिंहासन से उतार दिया, जिसके फलस्वरूप विक्रमादित्य षष्ठ को इस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए फिर दोनों, पूर्वी और पश्चिमी चालुक्यों के संधप को मुक्त करना पड़ा। चोल-चालुक्यों का यह मिला-जुला वंश १५० वर्षों तक चलता रहा।

इन पूर्वी और पश्चिमी चालुक्य वंशों के अतिरिक्त राष्ट्रकुटों ने भी दक्षिणी भारत की राजनीति पर अपना प्रभुत्व जमाया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि उनके मुख्य दन्तिदुर्ग और उसके चाचा कृष्ण प्रथम ने पूरी तरह से कीर्तिवर्मा द्वितीय के राज्यकाल में चालुक्यों को परास्त किया।

राष्ट्रकुट

दन्तिदुर्ग ने साम्राज्य की कल्पना की लेकर दक्षिण की ओर अपना सैनिक कार्य-कलाप आरम्भ किया। उसने थोथैल (कुरनूल) प्रदेश के चोलों को हराया। ७५० ई० के निकट कांची पर आक्रमण किया और अपनी पुत्री रेवा को पल्लवमल्ल से ब्याह कर इस काण्ड का उपसंहार किया। इस सैनिक सफलता के बाद उसने उत्तर की ओर जाकर कीर्तिवर्मा को ७५३ में गद्दी से उतारा। दन्तिदुर्ग के बाद कृष्ण ने कोंकण की जीतकर और वहाँ दीलाहारवंश के सामन्तों को नियुक्त करके तथा ७६८ ई० में गंगराजा श्रीपुल्ल को अपने अधीन करके अपनी शक्ति को और अधिक बढ़ाया। उसके पुत्र गोविन्द द्वितीय ने वेंनी पर आक्रमण कर के वहाँ के राजा विजयमादित्य प्रथम (७६९ ई०) का समर्पण प्राप्त किया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कृष्ण एलोरा के प्रख्यात कैलास मन्दिर के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध है। उसका उत्तराधिकारी गोविन्द द्वितीय (७७३ ई०) एक

भाई पुलकेशी द्वितीय का राज्यपाल था, जैसा कि संतारा के दानपत्र और 'अवन्ति
पूर्वी चालुक्य : सुन्दरी कथासार' नामक कृति से प्रकट होता है। तब ६३१ ई०
विष्णुवर्धन में पुलकेशी ने उसे विजयापटन और नेलोर के बीच के नव-
प्रबन्ध विजित नटवर्ती प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। इसके
बाद वह स्वतंत्र हो गया और उसने पूर्व चालुक्यों के वृक्ष राजवंश की स्थापना
की। उसके दानपत्रों से प्रतीत होता है कि पिष्टपुर और विजयापटन के बीच में
उसका राज्य था। उसके उत्तराधिकारियों के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि
उसने भुवराज की हर्मियत से १८ वर्ष राज्य किया और ६१५ से ६३३ तक वह
राजा पद पर रहा।

विष्णुवर्धन प्रथम के बाद उसका पुत्र जयासिंह (प्रथम) पृथ्वीवल्लभ गद्दी
पर बैठा और उसने ६६३ ई० तक ३० वर्ष राज्य किया। उसके बाद बहुत-से प्रमुख
राजाओं का राज्य रहा। विष्णुवर्धन द्वितीय के राज्यकाल में
उसके पृथ्वीव्याघ्र नामक एक निषाद राजा ने नेलोर के निकटवर्ती
उत्तराधिकारी दक्षिणी प्रदेश पर अधिकार कर लिया किन्तु, कांची के तन्दि-
वर्मा द्वितीय नामक फल्लव नरपति ने उसे वहाँ से निकाल दिया। इस वंश का अगला
राजा विजयादित्य प्रथम (७४६-६४ ई०) था, जिसके राज्यकाल में इस पर
राष्ट्रकूटों का संकट छाया, जिन्होंने पहिले ही पश्चिमी चालुक्यों का अन्त कर दिया
था। किन्तु भाग्य ने उसके उत्तराधिकारी विजयादित्य द्वितीय नरेन्द्रमुगराज
(७९९-८४३ ई०) का साथ दिया और उसने अपने पड़ोसी शत्रुओं को परास्त
करके राष्ट्रकूटवंशीय गोविन्द तृतीय की सहायता की याचना की। उसके उत्तराधि-
कारी विजयादित्य तृतीय (८४४-८८ ई०) ने राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय को
हराकर उसकी राजधानी मान्दलेट (मालखेड) को लूट लिया। वह एक राजा से
झड़ता हुआ मारा गया जिसे चोलवंशीय मंगी माना जाता है। अगले राष्ट्रकूट
राजा अमोघवर्ष (८१४-७७ ई०) ने उसे समर्पण करने पर विवश किया, किन्तु
भीम प्रथम (८८८-९१८ ई०) ने फिर वंश को प्रतिष्ठा को सम्भूत किया।

उसका उत्तराधिकारी अम्म विष्णुवर्धन शठ था जिसके सम्बन्धियों और
सामन्तों ने राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय से मिलकर उसके विरुद्ध पटवर्धन रचा और सिंहासन
के लिए बहुत-से वनाश्रयी दावेदार लड़े किए। एक ऐसे ही दावेदार मुद्दमल्ल ने सिंहा-
सन पर अधिकार किया। भीम तृतीय (९३४-४५ ई०) ने स्थिति को सम्भाला,
सिंहासन पर अधिकार करनेवाले का वध किया, विद्रोही पड़ोसियों को परास्त
किया और राष्ट्रकूट गोविन्द पंचम को हराया। किन्तु उसके तुरन्त बाद गिरावट
बाई। ९७३ से १००३ तक अजयान्ति का गुग था और चोलों के आक्रमण से गड़-
बड़ी फैल गई। किन्तु शक्तिवर्मा (१००३-१५ ई०, के राज्यकाल में, जिसने अपनी

मुद्राएँ जारी कीं, स्थिति अच्छी रही। उसका भतीजा विष्णुवर्धन सप्तम, जिसने १०२२ से ६३ तक राज्य किया, चोलराजा का पौत्र था। वह बाद में राजराज प्रथम कहलाया। उसके बाद उसका पुत्र गरी पर आया जो चालुक्य की अपेक्षा चोल अधिक था। क्योंकि तीन पीढ़ियों तक दोनों राजवंशों के वैवाहिक संबंध बहुत घनिष्ठ हो चले थे। इस सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक उसका नाम कुलोत्तुंग चोलदेव (१०६३-१११८ ई०) है। वस्तुतः 'विक्रमांकदेवचरित' नामक साहित्य-ग्रन्थ में पूर्वी चालुक्य राजा को स्पष्टतः चोल राजा कहा गया है। किन्तु पश्चिमी-चालुक्यों और चोलों के सम्बन्ध दुर्लभ बन रहे। पश्चिमी चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ ने चोल राजधानी पर आक्रमण किया। इस शत्रुता का अन्त परम्परागत पद्धति के अनुसार विक्रमादित्य और चोल राजेन्द्र चोल की पुर्बी के विवाह द्वारा हुआ। किन्तु यह शान्ति शकिक रही मझमि विक्रमादित्य अपने साले परकेसरी अधिराजेन्द्र को चोल राजनिहासन पर बैठा कर इसे सुदृढ़ करना चाहता था। इसने चोल-चालुक्य सम्बन्धों के इतिहास में एक रोचक घटना घटी। पूर्वी चालुक्य राजा राजीम (राजेन्द्र चोल-कुलोत्तुंग चोलदेव) ने विक्रमादित्य के भाई सीमेश्वर द्वितीय से पटवर्ग करके, उसके बैठाए हुए परकेसरी को चोल राजनिहासन से उतार दिया, जिसके फलस्वरूप विक्रमादित्य षष्ठ को इस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए फिर दोनों, पूर्वी और पश्चिमी चालुक्यों के संघर्ष को गुरु करना पड़ा। चोल-चालुक्यों का यह मिला-जुला वंश १५० वर्ष तक चलता रहा।

इन पूर्वी और पश्चिमी चालुक्य वंशों के अतिरिक्त राष्ट्रकूटों ने भी दक्षिणी भारत की राजनीति पर अपना प्रभुत्व जमाया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि उनके मुख्य दन्तिदुर्ग और उसके आचा कृष्ण प्रथम ने पूरी तरह से कीर्तिवर्मा द्वितीय के राज्यकाल में चालुक्यों को परास्त किया।

राष्ट्रकूट

दन्तिदुर्ग ने साम्राज्य की कल्पना को लेकर दक्षिण की ओर अपना सैनिक कार्य-कलाप आरम्भ किया। उसने श्रीशैल (कूर्नुल) प्रदेश के चोलों को हराया। ७५० ई० के निकट कांची पर आक्रमण किया और अपनी पुर्बी रेवा को पल्लवमल्ल से ह्वाह कर इस बाण्ड का उपसंहार किया। इस सैनिक सकलता के बाद उसने उत्तर की ओर जाकर कीर्तिवर्मा को ७५३ में गद्दी से उतारा। दन्तिदुर्ग के बाद कृष्ण ने कीर्तिवर्मा को जीतकर और वहीं शीलाहारवंश के सामन्तों को नियुक्त करके तथा ७६८ ई० में गंगराजा श्रीधर को अपने अधीन करके अपनी शक्ति को और अधिक बढ़ाया। उसके पुत्र गोविन्द द्वितीय ने बेंगी पर आक्रमण कर के वहाँ के राजा विजयादित्य प्रथम (७६९ ई०) का समर्पण प्राप्त किया। वैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कृष्ण एल्लारा के प्रख्यात कैलास मन्दिर के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध है। उसका उत्तराधिकारी गोविन्द द्वितीय (७७६ ई०) एक

दुर्बल शासक था। उसने मन्तिवर्मा, पल्लवमल्ल और उसके मित्र गंग राजा शिवमार द्वितीय को, उसके भाई को गंगवंश की राजगद्दी से उतारने में सहायता की और इस प्रकार दक्षिणी राजनीति में हाथ डाला। किन्तु घर पर उसके भाई ध्रुव के मुकाबले में उसकी शक्ति शून्य होती जा रही थी। ध्रुव ने पल्लव, गंग, पूर्वी चालुक्य और मालवे के राजाओं के एक शक्तिशाली संघ को परास्त किया। ध्रुव एक शक्तिशाली राजा था। उसने अपने सब प्रतिपक्षियों से बदला लिया। उसने गंग राजा को बन्दी किया, पल्लव राजा से हाथियों का कर लिया, मालव राजा गुर्जर वस्तराज को मरुभूमि में धकेल दिया। उसने बंगाल के राजा धर्मपाल को हराकर अपने कार्य को पूरा किया और पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन अतुष्ट को उसे अपने राज्य का कुछ भाग देने तथा उसके साथ अपनी पुत्री शील महारानी का विवाह करने के लिए विवश किया।

ध्रुव ने अपने पुत्र गोविन्द तृतीय के लिए गद्दी छोड़ दी। गोविन्द के बड़े भाई स्तम्भ (खम्ब) ने उसका विरोध किया और उसके विरुद्ध १२ राजाओं का, जिनमें गंग राजा शिवमार द्वितीय भी शामिल था, एक संघ बनाया। गोविन्द ने इस संघ को परास्त किया और स्तम्भ को उदारतापूर्वक गंगवाणी का राज्यपाल नियुक्त किया। उसने अपने छोटेभाई इन्द्र को लाट का राज्यपाल बनाया। उसके बाद उसने गुर्जर राजा नागभट को हराकर मालवा को लाट में मिला लिया जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। इससे उत्तर में कन्नौज के राजा जयसिंह और उसके संरक्षक धर्मपाल ने उसके सामने समर्पण किया। उत्तरी विजय में प्रोत्साहित होकर उसने दक्षिण की ओर आक्रमण किए और दन्तिवर्मा को ८०३ ई० में परास्त किया और लंका से अपने प्रभुत्व के प्रतीक के रूप में एक हस्तमण्डल बुलवाया। उसने बेगी के राजा विजयादित्य द्वितीय सरस्वतीनगराज के प्रतिपक्षी भीम सलूकी को सहायता करके वहाँ अपना सिक्का जमाया। इस प्रकार शिलालेखों के अनुसार वह अपने समय का महान् सूर्यास्त सिद्ध हुआ।

८१४ ई० में गोविन्द तृतीय के बाद उसका पुत्र अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग गद्दी पर बैठा। वह अभी युवा था। इस कारण दक्षिण के कर्मचारियों ने चालुक्य विजयादित्य और गंग राजमल्ल प्रथम की सहायता से उसके विरुद्ध विद्रोह किया। किन्तु ८२१ ई० में अपने आजाकारी चचेरे भाई लाट के अधिकारी कर्क की सहायता से उसने उन सब को परास्त किया। उसने ६६ वर्ष तक राज्य किया। किन्तु उसके राज्यकाल में अधिक शान्ति नहीं रही। पूर्वी चालुक्य गुणग विजयादित्य तृतीय ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया किन्तु हार खाई। गंग राजमल्ल प्रथम के पुत्र ने भी और विद्रोही राजाओं के साथ मिलकर विद्रोह किया इधर घर पर ध्रुवराज कृष्ण और ध्रुव के बीच में गृह-युद्ध छिड़ गया, जो लाट के राजा कर्क का पुत्र था। राष्ट्र-

कूट सेनापति बंकेश ने इन सब संकटों का सामना किया। बाद में गुणग विजयादित्य ने गंग विद्रोह का दमन किया। बंकेश ने धनु को युद्ध में भार दिया किन्तु उसके पुत्र अकालवर्ष और पौत्र ध्रुव द्वितीय ने संघर्ष जारी रखता जब तक कि ८६० ई० में गुर्जर मिहिर भोज के आतंक ने उन्हें संधि करने पर विवश किया; उसने मान्य-खेट नामक राजधानी की स्थापना की। जैनधर्म की ओर उसकी प्रवृत्ति थी। अमोघवर्ष प्रथम का उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय उसके बाद ८८० ई० में गद्दी पर बैठा। उसने गुर्जर भोज प्रथम के आक्रमण को रोका और स्वयं गुणग विजयादित्य के राज्यकाल में बेंगी को जीतने की चेष्टा की किन्तु उसे उसके सामने समर्पण करना पड़ा। ८९२ ई० में उसको मृत्यु के बाद उसने फिर आक्रमण किया और चालुक्य भीम को बन्दी बनाया किन्तु भीम भाग निकला और उसने अपने राज्य से राष्ट्र-कूटों को निकाल दिया। उसने बेंगी को जीतने की एक तीसरी चेष्टा भी की किन्तु दोनों युद्धों में हार खाई। अपने पौत्र कन्नरदेव को हटाकर जब चोल राजा परान्तक स्वयं गद्दी पर बैठा तो उसने चोल राजनीति में हाथ डाला किन्तु असफल रहा। परान्तक और उसके सहचर गंग पृथ्वीपति ने उसे और उसके साधियों को ९१२ ई० में बल्लाल के युद्ध में परास्त किया। उस समय कृष्ण द्वितीय का देहान्त हो गया और उसका पौत्र इन्द्र तृतीय उसके स्थान पर गद्दी पर बैठा। जब वह युवराज था तो उसने मालवा के परमार नरेय उर्ध्व को हराकर राष्ट्रकूट प्रमुख के अधीन किया। रावा बनने पर उसने कन्नौज के राजा महीपाल प्रथम (९१३-४३ ई०) को हराकर राजधानी पर अधिकार किया किन्तु महीपाल ने चन्देल राजा हर्षदेव की सहायता से फिर अपनी राजधानी वापिस ले ली। उसने अम्म प्रथम के राज्य के बाद बेंगी को जीता और ६ वर्ष तक उस पर अधिकार रखा। उसके बाद उसका पुत्र अमोघवर्ष द्वितीय (९२७ ई०) गद्दी पर आया, जिसे उसके भाई गोविन्द चतुर्थ (९२० ई०) ने हटा दिया। बड़बडेग अमोघवर्ष तृतीय ने गोविन्द को गद्दी से हटाया। हटाया। ९३९ में उसके पुत्र कृष्ण तृतीय का राज्याभिषेक हुआ। उसने अपने बह-भोज कूट द्वितीय को गंग राज्य की गद्दी प्राप्त करने में सहायता दी और उसके साथ मिलकर चोल राजा परान्तक प्रथम को हराया और उसका वध किया और उसके राज्य के एक बड़े भाग को अपने राज्य में मिलाकर 'काशी और बेंगी के विजेता' की उपाधि धारण की। उस आपत्ति से चोल साम्राज्य बच नहीं सका।

कृष्ण तृतीय ने अपने पूर्ववर्तियों की बेंगी को जीतने तथा वहाँ के राजा अम्म द्वितीय के विपरीत अपने सम्बन्धी दानार्णव को खड़ा करने की नीति को चालू रखा। दानार्णव ने ९७० ई० में उसे मार डाला। उसने मालवा के राजा हर्ष तीयक को क्षात्रा प्रभुत्व स्वीकार करने पर विवश किया। ९६३ ई० में उसने तारवाडी का महत्वपूर्ण प्रांत अपने होने वाले प्रतिपक्षी चालुक्य तैलप द्वितीय को बल्लाहा के रूप

में दे दिया और उसके परिणाम पर विचार नहीं किया। ९६७ ई० में उसका उत्तराधिकारी खोहिंग गद्दी पर बैठा। हर्ष सीयक ने उसकी सेनाओं को परास्त किया और ९७२ ई० में उसकी राजधानी मान्यखेट को स्वस्त किया। खोहिंग के बाद कर्क गद्दी पर आया जिसे चालुक्य तैलप द्वितीय ने तुरन्त गद्दी से उतार दिया और कल्याणी के तपे चालुक्य चाव्याज्य (९७३-९९७ ई०) की नींव रखी। उसने अपनी राजधानी मान्यखेट में अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया। नर्मदा और तुंगभद्रा के समूचे प्रदेश पर अधिकार किया और परमार राजा मूज के आक्रमण को रोक कर उसे हराया और उसका वध किया। उसके बाद ९९७ ई० में उसका पुत्र सत्याश्रय गद्दी पर बैठा। उसने अपने पिता की प्रसारवादी नीति को अधुण्य रखा। उसका प्रमुख प्रतिद्वन्दी चोल राजा राजराज प्रथम था जिसने बेंगी को अपने अधीन करके अपने नियुक्त किये हुए शक्तिवर्मा (१००० ई०) को वहाँ के सिंहासन पर बैठाया। सत्याश्रय ने अनुभव किया कि राजराज उसके राज्य को घेर रहा है, अतः उसने बेंगी पर आक्रमण किया। राजराज ने चालुक्य राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण करके बदला लिया और एक दूसरी सेना पूर्व की ओर बेंगी से चालुक्य-राज्य का अन्त करने के निमित्त भेजी। तब सत्याश्रय ने साँव का प्रस्ताव सामने रखा। चोल सेना बहुत-सी लूट लेकर वापिस गयी और उस से तंजौर के राज-राजेश्वर मन्दिर को सुसज्जित किया।

१००८ ई० में सत्याश्रय के बाद विक्रमादित्य प्रथम गद्दी पर बैठा और उसके बाद १०१५ ई० में जयसिंह द्वितीय ने राज्य करना आरम्भ किया। जयसिंह ने मालवा के परमार भोज के आक्रमण को रोककर उसे लाट और कोंकण से निकाल दिया। उसने बेंगी की गद्दी के लिए अपने नियुक्त किये हुए विजयादित्य सप्तम को, शक्तिवर्मा और चोल राजकुमारी के पुत्र, राजराज के विरुद्ध खड़ा करके वहाँ की राजनीति में दखल दिया। उसने बेल्गारी तक अभियान किया और उसके नियुक्त किये हुए विजयादित्य ने विजयवाड़े पर अधिकार किया। किन्तु राजेन्द्र के नेतृत्व में चोल सेना ने जयसिंह को पीछे हटा दिया और बेंगी से विजयादित्य को निकाल दिया और वहाँ से कलिंग पर आक्रमण करके जयसिंह के मित्र पूर्वी गंग राजामधु-कामार्णव को १०१९ में दण्ड दिया।

जयसिंह द्वितीय के बाद उसका पुत्र सीयेस्वर प्रथम आहवमल्ल गद्दी पर बैठा (१०४२ ई०) जिसने चोल आक्रमणकारी को मान्यखेट देकर कल्याणी में नयी राजधानी स्थापित की। उसने उत्तर की ओर भी कदम बढ़ाए, मालवा के परमार राजाओं की राजधानी धारा पर आक्रमण किया, वहाँ से कौसल और कलिंग में प्रवेश किया और चक्रकूट के राजा धारावर्ष को अपने अधीन किया। इन आक्रमणों में काकतीय राजा प्रोल प्रथम ने उसकी बड़ी सहायता की। अन्त में उसने बेंगी पर

आक्रमण किया। चौर चोल राजराज को चुनौती दी जिसे विजयादित्य सप्तम ने १०३१ ई० में जयसिंह द्वितीय की सहायता में बेंगो से निकाल दिया। तथापि वह पश्चिमी चालुक्यों की राज्यसभा में आश्रय लेने को विवश हुआ। चोल राजा राजाधिराज ने बेंगी पर आक्रमण जारी रखा और चालुक्य प्रदेश पर हमला करके कल्याणी को स्वस्त किया। किन्तु सोमेश्वर ने वर्षपूर्वक १०५० ई० में अपने देश को चोल सेनाओं के अधिकार से मुक्त किया और बेंगी के राजराज को अपनी अधीनता मानने पर विवश किया। उसके सेनापति ने कांची पर आक्रमण किया। राजाधिराज ने १०५३ ई० में सोमेश्वर से कृष्णा नदी पर युद्ध किया और उसमें मारा गया। उस के भाई राजेन्द्र ने तुरन्त सेना का नेतृत्व सम्भाला और चोलों की बिगड़ी स्थिति को सुधार पर कोलहापुर तक बढ़ गया। १०६१ में सोमेश्वर ने चोलों के संकट को दबाने की योजना बनाई। उसने बेंगी के सिंहासन पर अपने आदमी को बैठाया और अपने पुत्रों के नेतृत्व में गंगवाड़ी में आक्रमण के लिए सेना भेजी। राजेन्द्र द्वितीय ने दोनों मोर्चों पर चुनौती को झेला। बेंगी में चालुक्यों का नियुक्त किया राजा मारा गया और गंगवाड़ी का आक्रमण धकेल दिया गया। इस प्रकार सोमेश्वर का कार्यकालाप्त पूर्णतः असफल हुआ।

अगले चोल राजा वीरराजेन्द्र (१०६३) के राज्यकाल में सोमेश्वर ने अपना प्रयत्न जारी रखा और सब मोर्चों पर युद्ध चालू रखा। किन्तु तुंगभद्रा के तट पर चोलों ने सोमेश्वर को परास्त किया और वीरराजेन्द्र ने इस विजय के उपलक्ष्य में वहाँ एक विजयस्तम्भ स्थापित किया। उसने विजयवाहा के निकट भी एक गीर्वाण युद्ध में चालुक्यों को पराजित किया। दोनों पक्ष एक अन्तिम युद्ध के लिए तैयारियाँ कर ही रहे थे जब १०६८ ई० में सोमेश्वर तुंगभद्रा में डूब कर मर गया।

सोमेश्वर प्रथम के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय गद्दी पर बैठा, जिसे अपने छोटे भाई विक्रमादित्य षष्ठ के चोल राजा वीर राजेन्द्र के साथ अपने विरुद्ध किये गए पड़ोस के सामना करना पड़ा। वह बेंगी पर पश्चिमी चालुक्यों के दावे को वीर राजेन्द्र के हक में छोड़ने को तैयार हो गया और उसने उसकी पुत्री से विवाह भी किया। इस प्रकार सोमेश्वर द्वितीय को उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा और उसे चालुक्य राज्य के दक्षिणी भाग का स्वतंत्र अधिपति मानना पड़ा। इससे पूर्वी चालुक्य राजकुमार राजेन्द्र ने बेंगी पर अपना दावा छोड़ दिया।

१०७० ई० में चोल राजा वीर राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् चोल साम्राज्य में अराजकता फैल गई। विक्रमादित्य षष्ठ ने शीघ्र कांची आकर अपने साले अधिराजेन्द्र को राजा बना दिया। किन्तु पूर्वी चालुक्य राजा राजीगकुलोत्तुंग प्रथम ने सोमेश्वर द्वितीय की सहायता से शीघ्र अधिराजेन्द्र को गद्दी से हटा दिया। इससे सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य षष्ठ में एक भ्रातृघातक गृहयुद्ध छिड़ गया।

विक्रमादित्य घट की ओर यादव, कदम्ब और होयसल थे। किन्तु कल्लिचुंग विक्रमादित्य घट की तुंगभद्रा से खदेड़ने और गंगवादी को जीतने में सफल हुआ। दूसरी ओर विक्रमादित्य घट ने सोमेश्वर द्वितीय को हराकर बन्दी बनाया और उसकी जगह अपने आप को १०७६ ई० में राजा घोषित किया। उसे कई संकटों का सामना करना पड़ा। बिहित्त विष्णुवर्धन (११११ ई०) के नेतृत्व में होयसलों ने विद्रोह किया किन्तु उन्हें हार खाकर ११२३ ई० में अवीमत्ता स्वीकार करनी पड़ी। उसके बाद विक्रमादित्य ने बेगी और गंगवादी को जीतकर और चोलों को तमिलदेश में धकेल कर और रोक कर आक्रामक नीति को आरम्भ किया। उसकी और उसके दुर्बल उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय (११२७ ई०) की मृत्यु के बाद चोल राजा विक्रम चोल ने बेगी पर फिर से अधिकार किया। यह तैल तृतीय (११५०-६३ ई०) तक दुर्बल राजाओं की परम्परा के राज्यकाल में चालुक्य राज्य के क्रमिक विघटन का शीर्षपक्ष था। चालुक्यों के सामन्तों, उदाहरणार्थ विष्णुवर्धन के नेतृत्व में होयसलों, बारगल के काकतियों, तरदवादी के कलचुरियों और देवगिरि के बादवों के विद्रोह भ्रमक उठे। ११५७ ई० में कलचुरी राजा विज्जल ने होयसलों को पीछे धकेल कर और अपने आपको राजा घोषित करके कल्याणी पर अधिकार कर लिया। ११८३ में तैल तृतीय के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने कलचुरियों को पीछे हटा दिया किन्तु भिल्लन (११८७-९१ ई०) के राज्यकाल में चालुक्य राज्य के उत्तरी भाग और कल्याणी को बादवों के हथाले करके वहाँ से दक्षिण में बनवासी की ओर प्रस्थान किया। उसी समय बल्लाल द्वितीय के नेतृत्व में होयसलों ने अनेक युद्धों में चालुक्यों की शक्ति का सफाया किया और भिल्लन को युद्धभूमि पर नीत के घाट उतारा। काकतियों ने भी कुछ प्रदेश जीतकर चालुक्यों के विघटन की प्रक्रिया में योग दिया। किन्तु भिल्लन के वीरपुत्र जैनुगी ने ११९६ ई० में काकतीय राजा रुद्र का वध किया और उसके योग्य पुत्र मिहल ने होयसल राजा बल्लाल द्वितीय से वे सब प्रदेश फिर से जीत लिए जो उसने सोमेश्वर चतुर्थ और भिल्लन को हरा कर प्राप्त किए थे।

सुदूर दक्षिणी भारत

सुदूर दक्षिणी भारत तीसरी शती ई० पू० में इतिहास के आलोक में आता है जब अशोक ने अपने शिलालेखों में वहाँ के चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सत्यपुत्र आदि लोगों का उल्लेख अपने अन्तों, साम्राज्य की सीमाओं पर बसने वाले लोगों, के रूप में, साम्राज्यी अवस्था लंका के साथ किया, जिसके साथ उसने मित्रता और पड़ोस के संबंध स्थापित किए। यह हमरूपीय है कि अपनी लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर उसने उस सुदूर देश में अपने पुत्र और पुत्री को प्रचारकार्य करने और वहाँ भारतीय दर्शन, बौद्धधर्म, फैलाने के लिए नियुक्त किया।

बहुत प्राचीन काल में सुदूर दक्षिणी भारत पूर्वी देशों (सुवर्ण द्वीप अथवा मलाया प्रायद्वीप) और पश्चिम (विशेषतः रोमन साम्राज्य) से अपने लाभप्रद समुद्री व्यापार के फलस्वरूप आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो गया। मोमसन के अनुसार भारत से आई वस्तुओं के दाम चुकाने में रोमन साम्राज्य का सारा स्वर्णकोश खाली हो गया। टोलेमी, प्लिनी और पेरिप्लस आदि कुछ यूनानी-लातीनी कृतिपों में प्रथम तीन शताब्दि ई० के इस समुद्रपार के व्यापार का वर्णन मिलता है। इससे कोइम्बेदूर और मद्रुरा जैसे स्थानों पर रोमन मुद्राओं की प्राप्ति की और कावेरी-पट्टनम् आदि स्थानों पर रोमन उपनिवेशों के अवशेषों की उपलब्धि हुई है, जहाँ विदेशी माल गोदामों के चिह्न मिले हैं। पाण्डुचेरी के निकट अरिकमेडु नामक

स्थान पर क्लादियस के युग (४१-५४ ई०) की घुघरालू सैली की मिट्टी की वस्तुएँ मिली हैं जिन पर रोम के कुम्हारों की छाप मिलती है। इनसे रोम और भारत के सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

रोमन साम्राज्य में दक्षिणी भारत के पदार्थों की बड़ी माँग थी। वहाँ के वृक्षों से काली मिर्च, पान, सुपारी, मसाले, सुगन्धित द्रव्य मिलते थे; वहाँ के हाथियों से हाथी दाँत, खानों से महापंखे रत्न, समुद्रों से मोती और कुटीर उद्योगशालाओं से रेशम और मलमल प्राप्त होते थे। रोम की सुन्दरियों में भारतीय मलमल की बड़ी माँग थी। वे इसकी सात तहों के वस्त्र पहन कर बान से रोम की सड़कों पर निकलती थीं और वहाँ के लोगों के नैतिक आदर्शों को डीला करती थीं। कानून द्वारा इस पदार्थ के प्रयोग पर पाबन्दी लगायी गई। रोम से भारत में आने वाली वस्तुओं में शराब, पीतल, सीसा, काँच का सामान, लैंग्य और कुलदान और राजा के अंगरक्षक का काम करने वाले सैनिक, जिन्हें 'तमिल कुतियों' में 'यूगे ग्लेच्छ' कहा गया है, प्रमुख थे। मुजिरिस (येन्नेतोर) आदि नगरों में रोमन सैनिकों की बस्तियाँ थीं। व्यापार के लिए पहिली शती ई० पू० में रोमन सम्राट आगस्टस की सभा में एक पाण्ड्य राजा ने एक दूत-मण्डल भेजा था।

सबसे पहिले पाण्ड्य राजाओं ने प्रमुखता प्राप्त की। महावंस से ज्ञात होता है कि एक पाण्ड्य राजा ने ४३ और २९ ई० पू० के बीच में लंका पर विजय प्राप्त कर वहाँ शासन किया। पहिली शती ई० के तमिल संगम साहित्य में दक्षिणी भारत का प्रारम्भिक इतिहास मिलता है। इस साहित्य में २०,००० पद्य मिलते हैं। एक संप्रदाय का नाम 'दस ग्राम्यगीत' है। इन में राजाओं के नाम तो मिलते हैं किन्तु उनका इतिहास नहीं मिलता।

मोटे रूप में प्रारम्भिक पाण्ड्य राज्य में तिरुवल्ली, रामनाड और मदुरा के प्रदेश शामिल थे।

इसका निश्चित क्रमबद्ध इतिहास जाठवों और तर्वी शती ई० में प्रारम्भ होता है जब पल्लव चोल आदि दक्षिणी सत्ताओं से इसके सम्बन्ध स्थापित हुए।

संगम युग के बाद एक अन्धकार भूग आया जिसमें कलभ नामक दुष्ट लोगों का जोर हुआ। उन्होंने बहुत-से अधिराजों को निकाल दिया। कलभकुल के एक राजा अच्युतविक्रान्त ने चोल, चेर और पाण्ड्य तीनों राजाओं को बन्दी बना लिया। उसके अत्याचार से भीषण प्रतिक्रिया हुई और पाण्ड्यों और पल्लवों ने मिलकर उसके अत्याचार का अन्त कर दिया।

छठी शती ई० से पाण्ड्यों का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। अरिकेसरी परान-कुस ने वेनाड (दक्षिणी वायणकोर) और मोती मिलने वाले तट के परावों को पराजित किया। उसके पुत्र रणवीर (७१०-७३० ई०) ने मंगलोर तथा कॉंगू

पाण्ड्य तक के प्रदेश को जीत लिया। उसके पुत्र मारवर्मा राजसिंह प्रथम (७३०-६५) ने पल्लव राजनीति में हस्तक्षेप करके पल्लव राजा पल्लवमल्ल के एक प्रतिपक्षी का समर्थन किया और कुछ समय के लिए पल्लवमल्ल को एक दुर्ग में बन्दी कर लिया। उसके पुत्र वरगुण प्रथम (७६५-८१५ ई०) ने पल्लवराजा नन्दिवर्मा द्वितीय और उसके सब साथियों को हराकर कावेरी के दक्षिण तक और सलेम और कोडम्बटूर जिलों तक अपने राज्य का विस्तार किया। उसके पुत्र श्रीमार (८१५-६२ ई०) ने राजा सेन-प्रथम के (८३१-५१ ई०) राज्यकाल में लंका तक विजय किया। राजा श्रीमार श्री बल्लभ ने पल्लवराजा नन्दिवर्मा तृतीय को ८५९ ई० में कुम्बकोनम् के युद्ध में परास्त किया किन्तु स्वयं उसके पुत्र नृपतुंग के हाथों हार खाई। लंका के राजा सेन द्वितीय (८५१-५५ ई०) ने इसे बदला लेने का अच्छा अवसर समझ कर मदुरा को लूट लिया। वैचारि श्रीमार लड़ता हुआ मारा गया और सिंहली सेनापति ने ८६२ ई० में उसके पुत्र वरगुणवर्मा द्वितीय को पाण्ड्य राजगद्दी पर नृपतुंग के मातहत के रूप में समाधीन किया।

परान्तक प्रथम के बाद चोल सत्ता के ह्रास के बाद पाण्ड्यों ने फिर स्वतंत्रता प्राप्त की, किन्तु परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल (९५६-७३ ई०) के राज्यकाल में वीर पाण्ड्य लड़ता हुआ युद्ध में मारा गया।

चोलों के शक्तिशाली सम्राट् राजेन्द्र प्रथम के राज्यकाल में पाण्ड्य और केरल-देश मदुरा के प्रान्त में विलीन हो गए जिस पर चोल-पाण्ड्य राजकुमार का शासन था।

पाण्ड्य इतिहास की अगली घटना लंका के राजा पराक्रमबाहु प्रथम (१३-१५ ८६) और चोलराजा कुलोत्तुंग द्वितीय के समर्थन से परान्तक पाण्ड्य और कुलशेखर के मध्य उत्तराधिकार-युद्ध था। मदुरा के घेरे में कुलशेखर ने अपने प्रति-द्वन्द्वी का वध किया। लंका के राजा ने परान्तक के पुत्र वीर पाण्ड्य को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया किन्तु कुलशेखर को चोल राजा से जो सहायता मिली वह उसके सामने नहीं ठहर सका। अन्त में कुलशेखर की हतभ्रता के कारण चोल-राजा ने वीर पाण्ड्य को पाण्ड्यों की गद्दी पर बैठाया।

अगला महत्वपूर्ण राजा मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (१२१६) था, जिसने कुलोत्तुंग तृतीय के राज्यकाल में चोल राज्य पर आक्रमण किया और उसे देश से निकाल दिया। किन्तु उसका मित्र होयसल राजा बल्लाल तृतीय ने उसको फिर से गद्दी पर बैठाने पर विवश किया। अगले चोल राजा राजराज तृतीय (१२१६-५६) के राज्यकाल में दोनों में फिर युद्ध छिड़ गया किन्तु होयसल राजा नरसिंह द्वितीय के सैनिक हस्तक्षेप के कारण, जिसने सुन्दर चोल को परास्त किया, वह

स्थान पर ब्लादिमिर के युग (४१-५४ ई०) को घुमराहू उंली की मिट्टी की बस्तुएँ मिली हैं जिन पर रोम के कुम्हारों की छाप मिलती है, व्याख्या हो जाती है। इनसे रोम और भारत के सम्बन्ध पर तर्कपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

रोमन साम्राज्य में दक्षिणी भारत के पदार्थों की बड़ी माँग थी। वहाँ के वस्त्रों से काली मिर्च, पान, सुगंधी, मसाले, सुगन्धित द्रव्य मिलते थे; वहाँ के हाथियों से हाथी दाँत, खानों से महार्प रत्न, समुद्रों से मोती और कटोर उद्योगशालाओं से रेशम और मलमल प्राप्त होते थे। रोम की सुन्दरियों में भारतीय मलमल की बड़ी माँग थी। वे इसकी बात तहाँ के वक्त्र पहर कर शान से रोम की सड़कों पर निकलती थीं और वहाँ के लोगों के नैतिक आदर्शों को ढीला करती थीं। कानून द्वारा इस पदार्थ के प्रयोग पर पाबन्दी लगाई गई। रोम से भारत में आने वाली वस्तुओं में शराब, पीतल, सीसा, काँच का सामान, लैम्प और फूलदान और राजा के अपरस्त्रक का काम करने वाले सैनिक, जिन्हें तामिल कुतियों में 'गूने म्लेच्छ' कहा गया है, प्रमुख थे। मुज़िरिस (चेन्नैनोर) आदि नगरों में रोमन सैनिकों की बस्तियाँ थीं। व्यापार के लिए पहली शती ई० पू० में रोमन सम्राट बागस्टस की राना में एक पाण्ड्य राजा ने एक दूत-मण्डल भेजा था।

सब से पहिले पाण्ड्य राजाओं ने प्रमुखता प्राप्त की। महावंस से ज्ञात होता है कि एक पाण्ड्य राजा ने ४३ और २९ ई० पू० के बीच में लंका पर विजय प्राप्त कर वहाँ शासन किया। पहली शती ई० के तमिल संगम साहित्य में दक्षिणी भारत का प्रारम्भिक इतिहास मिलता है। इस साहित्य में ३०,००० पद्य मिलते हैं। एक संग्रह का नाम 'वस ग्राम्यगीत' है। इन में राजाओं के नाम तो मिलते हैं किन्तु उनका इतिहास नहीं मिलता।

मोटे रूप में प्रारम्भिक पाण्ड्य राज्य में तिरुवल्ली, रामनाड और मदुरा के प्रदेश शामिल थे।

इसका निश्चित कमवय इतिहास आठवीं और नवीं शती ई० में प्रारम्भ होता है जब पल्लव ओल आदि दक्षिणी सत्ताओं से इसके संबंध स्थापित हुए।

संगम युग के बाद एक अन्धकार युग आया जिसमें कलत्र नामक दुष्ट लोगों का जोर हुआ। उन्होंने बहुत-से अविराजों को निकाल दिया। कलत्रकूल के एक राजा अञ्जुतविक्रान्त ने ओल, केर और पाण्ड्य तीनों राजाओं को बन्दी बना लिया। उसके अत्याचार से भीषण प्रतिक्रिया हुई और पाण्ड्यों और पल्लवों ने मिलकर उसके अत्याचार का अन्त कर दिया।

छठीं शती ई० से पाण्ड्यों का कमवय इतिहास मिलता है। अरिकेसरी परान कूट ने वेनाड (दक्षिणी चावणकोर) और मोती मिलने वाले तट के परावों को पराजित किया। उसके पुत्र रणामीर (७१०-७३० ई०) ने

पाण्ड्य

मंगलौर तथा कोयंबू तक के प्रदेश को जीत लिया। उसके पुत्र मारवर्मा राजासिंह प्रथम (७३०-६५) ने पल्लव राजनीति में हस्तक्षेप करके पल्लव राजा पल्लवमल्ल के एक प्रतिपक्षी का समर्थन किया और कुछ समय के लिए पल्लवमल्ल को एक दुर्ग में बन्दी कर लिया। उसके पुत्र वरगुण प्रथम (७६५-८१५ ई०) ने पल्लवराजा नन्दिवर्मा द्वितीय और उसके सब साधियों को हराकर कावेरी के दक्षिण तक और सलेम और कोयंबटूर जिलों तक अपने राज्य का विस्तार किया। उसके पुत्र श्रीमार (८१५-६२) ने राजा सेन-प्रथम के (८३१-५१) राज्यकाल में लंका तक विजय किया। राजा श्रीमार श्री चोलभ ने पल्लवराजा नन्दिवर्मा तृतीय को ८५९ ई० में कुम्बकोनम् के युद्ध में परास्त किया किन्तु स्वयं उसके पुत्र नृपतुंग के हाथों द्वार खाई। लंका के राजा सेन द्वितीय (८५१-५५) ने इसे बदला लेने का अच्छा अवसर समझ कर मदुरा को लूट लिया। वेचारा श्रीमार लड़ता हुआ मारा गया और सिहली सेनापति ने ८६२ ई० में उसके पुत्र वरगुणवर्मा द्वितीय को पाण्ड्य राजगद्दी पर नृपतुंग के मातहत के रूप में समाधीन किया।

परान्तक प्रथम के बाद चोल सत्ता के ह्रास के बाद पाण्ड्यों ने फिर स्वतंत्रता प्राप्त की, किन्तु परान्तक द्वितीय सुन्दर चोल (९५६-७३) के राज्यकाल में वीर पाण्ड्य लड़ता हुआ युद्ध में मारा गया।

चोलों के शक्तिशाली सम्राट् राजेन्द्र प्रथम के राज्यकाल में पाण्ड्य और केरल-देश मदुरा के प्रान्त में विलीन हो गये जिस पर चोल-पाण्ड्य राजकुमार का शासन था।

पाण्ड्य इतिहास की अगली घटना लंका के राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-८६) और चोलराजा कुल्लोत्तुंग द्वितीय के समर्थन से परान्तक पाण्ड्य और कुल्लोत्तुंग के मध्य उत्तराधिकार-युद्ध थी। मदुरा के घेरे में कुल्लोत्तुंग ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों का वध किया। लंका के राजा ने परान्तक के पुत्र वीर पाण्ड्य को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया किन्तु कुल्लोत्तुंग की चाल राजा से जो सहायता मिली वह उसके सामने नहीं ठहर सका। अन्त में कुल्लोत्तुंग की कृतघ्नता के कारण चोल-राजा ने वीर पाण्ड्य को पाण्ड्यों की गद्दी पर बैठाया।

अगला महत्वपूर्ण राजा मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (१२१६) था, जिसने कुल्लोत्तुंग तृतीय के राज्यकाल में चोल राज्य पर आक्रमण किया और उसे देश से निकाल दिया। किन्तु उसके मित्र होयसल राजा चल्लाल तृतीय ने उसको फिर से गद्दी पर बैठाने पर विवश किया। अगले चोल राजा राजराज तृतीय (१२१६-५६) के राज्यकाल में दोनों में फिर युद्ध छिड़ गया किन्तु होयसल राजा नरसिंह द्वितीय के सैनिक हस्तक्षेप के कारण, जिसने सुन्दर चोल को परास्त किया, यह

संघर्ष समाप्त हो गया (१२३१ ई०)। पुषराज राजेन्द्रतृतीय ने संघर्ष फिर शुरू किया और दो पाण्ड्य राजाओं को हराया किन्तु उनके मित्र नरसिंह द्वितीय के पुत्र होयसल सोमेश्वर से हार खाई।

इसके बाद जटायर्मा सुन्दर पाण्ड्य (१२५१) नामक योग्य राजा का राज्य आरम्भ हुआ जिसके साथ राजेन्द्र तृतीय और सोमेश्वर ने मित्रता का संबंध रखा। उसने निम्नलिखित विजयों के फलस्वरूप अपने राज्य की अधिकाधिक विस्तार दिया: (१) चेर राजा रवि उदय के राज्य को अपने राज्य में मिलाना, (२) चोल राजा से कर प्राप्त करना, (३) लंका से अनेक हाथी और सोती प्राप्त करना, (४) श्रीरंगम के पास एक होयसल दुर्ग पर अधिकार करना और वहाँ के राजा का बध करना (१२६२), (५) सेन्यामंगलम् के राजा को अपने अधीन करना, (६) सलेम और दक्षिणी अरकाट जिले के होयसल प्रदेश को जीतना, (७) कांची पर अधिकार करना और वहाँ के राजा गण्डर्गोपाल का बध करना, (८) काकतीय सेना को परास्त करना और वहाँ के बाण राजा को देश से निकालना। इन विजयों के उपलक्ष्य में उसने नेल्लोर में श्रीरामायेंक किया। १२६३ के लगभग उसके प्रतिनिधि जटायर्मा चेर पाण्ड्य ने लंका में आक्रमण करके विजय प्राप्त की। इन युद्धों की विशाल छुट से सुन्दर ने श्रीरंगम् और चिदम्बरम् के मन्दिरों को सुसज्जित और सुसमाप्त किया। १२६८ में सुन्दर का देहान्त हुआ और उसके बाद मारवर्मा बल सेन प्रथम गद्दी पर बैठे। उसने १२७९ में होयसल रामनाथ और चोल राजेन्द्र तृतीय के सम्मिलित दल को परास्त किया और इन प्रदेशों को पाण्ड्य राज्य में मिला लिया। कुलशेखर ने 'संबदेय विजेता' की पदवी धारण की। उसने १२८० में लंका को जीत कर वहाँ राज्य किया। १३०३ में उसकी मृत्यु के बाद लंका स्वतंत्र हुआ।

पाण्ड्य राज्य में उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया। चेर ने गद्दी प्राप्त की। उसके प्रतिद्वन्दी सुन्दर ने मलिक काफूर के नेतृत्व में मुसलमानों से सहायता मांगी जिसके आक्रमण से उसके राज्य का अन्त हुआ। कावणकोर के चेर राजा रविवर्मा के आक्रमण ने पाण्ड्यों के पतन की प्रक्रिया को पूरा किया। उसने १३१५ ई० में चेर के राज्यकाल में चोल और पाण्ड्य प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। मधुरा एक मुसलमान केन्द्र बन गया।

चोलों के नेतृत्व में दक्षिण भारत में बड़ा राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्व प्राप्त किया। चोलों ने (८५०-१२०० ई०) पूर्वेर्वाणित राष्ट्रकुटुंब और चालुक्यों

से संघर्ष करके सम्राट-पद प्राप्त किया। चोल-चालुक्य संघर्ष ने

चोल

दोनों की शक्तियों को क्षीण करके उत्तर में यादवों और काकतीयों और दक्षिण में होयसलों और पाण्ड्यों के लिए मैदान

साफ कर दिया।

चोल साम्राज्य का संस्थापक बिजयालय (८५० ई०) था। उसने पल्लवों के सामन्त के रूप में तंजौर में राज्य करना शुरू किया। उसके पुत्र आदित्य प्रथम ने पल्लव सुवराज अपराजित और गंग पृथ्वीपति प्रथम की सहायता से अपने देश पर पाण्ड्य वरगुणवर्मा द्वितीय के आक्रमण को विफल किया और फिर आक्रामक नीति अपना कर समस्त पल्लव राज्य पर धावा बोल दिया और वहाँ के राजा अपराजित को मार डाला (८९८ ई०)। अब चोल राज्य उत्तर में राष्ट्रकूट राज्य को घेरता तक फैल गया और कोंगू राजा परान्तक वीरनारायण (८८०-९००) और गंग पृथ्वीपति द्वितीय ने इसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। आदित्य प्रथम ने राष्ट्रकूट और चेर राजाओं के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करके अपनी सत्ता को सुदृढ़ किया। उसने कावेरी के तट पर बहुत-से शिव-मन्दिर बनवाए और कालहस्ती के निकट घरीर छोड़ा, जहाँ उसने उत्तराधिकारी उसके अवशेषों पर एक मन्दिर बनवाया।

उसने ४० वर्ष तक (९८७ से ९५५ ई०) तक राज्य किया। उसने राजसिंह द्वितीय के राज्यकाल में पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया और अपने आपको परान्तक प्रथम 'मडुरा का विजेता' घोषित किया। एक और युद्ध में उसने और उसके राजसिंह को लंका और वहाँ से केरल भगा दिया। उसी समय उत्तराधिकारी उसे राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय के आक्रमण का सामना करना पड़ा, जिसे उसने परास्त किया (९१५ ई०)। किन्तु राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय और उसके मित्र गंग वट्टग द्वितीय ने उसके विरुद्ध दूसरा आक्रमण किया और उसे ९४९ ई० में अकॉनम के निकट पराजित किया। कुछ और विजयें प्राप्त करके कृष्ण तृतीय ने बहुत बड़े चोल प्रदेश पर अधिकार कर लिया, और अपने आपको 'कांची और तंजौर का विजेता' घोषित किया। जबकि पाण्ड्य राज्य ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की; चोलों ने अपनी स्वतंत्रता खो दी।

परान्तक प्रथम एक सैनिक नेता, प्रशासक और विद्वानों का संरक्षक था। उत्तरमल्लूर में उसके शिलालेख बहुमूल्य हैं। उनमें निर्वाचन के आधार पर स्वयं-शासित-ग्राम-समाजों की कार्य-प्रणाली का वर्णन है। उसके राज्य में कावेरी के तट पर प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् वेङ्कट माधव ने श्रग्वेद का भाष्य लिखा।

३० वर्ष के ह्रास के बाद परान्तक द्वितीय सुन्दर (९५६-७३) के राज्यकाल में चोलों के उद्धार के लक्षण प्रकट हुए। अपने पुत्र आदित्य द्वितीय को साथ लेकर उसने लंका पर चढ़ाई की और पाण्ड्य और को युद्ध में मारा। उत्तर में उसने वे सब प्रदेश वापिस लिए जिन्हें राष्ट्रकूटों ने अपने राज्य में मिला लिया था। बुभोग से आदित्य का उसके चचेरे भाई उत्तम चोल से वध करके स्वयं राज्य हड़प लिया।

(१७३-८५) । १७३ में कांची में भग्न हृदय सुन्दर चोल ने शरीर छोड़ा और उसका पुत्र राजराज प्रथम समय की बात जोड़ता रहा । वह समय शीघ्र आया । राजराज प्रथम ने दक्षिण में पाण्ड्य, केरल, सिंहाल के सब को परास्त किया । एक नाविक आक्रमण के बाद उसने लंका के उत्तरी भाग पर अधिकार किया, इसकी राजधानी अनुराधपुर को ध्वस्त किया और पोल्लोन्नारुवा में चोल राजधानी स्थापित की । उसके बाद उसने मैसूर प्रदेश का बहुत-सा भाग जीत लिया और चोल साम्राज्य को तैल द्वितीय (१७३-१९७) के चालुक्य राज्य की सीमा तक बढ़ा दिया । इस बीच में राजराज प्रथम ने बेंगी का दमन किया और उसकी गद्दी पर अपने नियुक्त किए हुए अतिथियों को बैठाया (१००० ई०) और इस प्रकार इसे चोल राज्य का एक प्रान्त बना लिया । इससे पश्चिमी चालुक्य राजा सत्याशय का विरोध भन्नक उठा । जब उसने बेंगी पर आक्रमण किया (१००६ ई०) तो राजराज ने अपने लड़के राजेन्द्र को चालुक्य राज्य पर आक्रमण के लिए भेजा और उसकी राजधानी मान्यग्रेट को ध्वस्त कर दिया । उसी समय एक अन्य चोल सेना ने बेंगी से चालुक्य सेना को निकाल दिया । इस पराजय से सत्याशय सन्धि की बात करने को बाध्य हुआ । विजय की लूट से राजराज ने तंजौर के प्रसिद्ध राज-राजेश्वर मन्दिर को अलंकृत किया । उसने एक शक्तिशाली नौसेना तैयार की और उससे मालदीव द्वीपों पर विजय प्राप्त करके सुमात्रा के श्रीविजय साम्राज्य से मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित किए, जहाँ के राजा ने नागपट्टम में एक विहार बनवाया ।

राजराज के बाद १०१४ ई० में उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम गद्दी पर बैठा । उसने लंका की विजय को पूरा किया और वहाँ के राजा महिन्द पंचम को चोल राज्य में भेगवाया जहाँ उसकी मृत्यु हुई । किन्तु उसके पुत्र कनक विक्रमबाहु प्रथम ने फिर से लंका का दक्षिणी भाग प्राप्त कर लिया । उस समय राजेन्द्र को बेंगी में उसके प्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य से किए गये चालुक्य जयसिंह द्वितीय के प्रयत्नों का सामना करना पड़ा । जयसिंह बेल्लारी तक और उसका पुत्र विजयादित्य विजयवाड़ा तक बढ़ गया । राजेन्द्र ने दोनों स्थानों में दोनों को निकाल दिया । और अपने नियुक्त किए हुए राजराज को बेंगी में प्रतिष्ठित किया । तब वह कलिंग तक बढ़ा और उसने जयसिंह के मित्र पूर्वी गंग मधुकामार्जव (१०१९-३८) को दण्ड दिया । वहाँ से वह गंगा की घाटी में पुन आया और गंगईकोण्ड को उपाधिवारण की तथा अपनी नयी राजधानी का नाम गंगईकोण्ड चोलपुरम् रखा ।

उसका अगला कार्य १०२५ में अपनी नौसेना द्वारा श्रीविजय की विजय था । वहाँ का राजा मंगम-विजयोत्तुंगवर्मा पकड़ा गया और उसके नगर श्रीविजय और मल्लामा के पश्चिमी तट पर स्थित कदारम् पर चोल राजा का अधिकार हो

गया। किन्तु वहाँ का राज्य वहाँ के राजा को वापिस कर दिया गया।

सुवराज राजाधिराज ने पाण्ड्य और केरल के विद्रोहों का दमन किया। १०४१ में उसने लंका पर आक्रमण किया जहाँ विक्रमबाहु ने तमिलों को दवाने की चेष्टा की। उसके बाद अशान्ति मच गई। राजेन्द्र के राज्य के अन्तिम दिनों में बेंगो में कल्याणी के जयसिंह द्वितीय के उत्तराधिकारी चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम आह्वयमल्ल (१०४०) ने संकट सड़ा कर दिया। उसने चोल राजा के नियुक्त किए हुए राजराज को हटाने के लिए बेंगो पर आक्रमण किया। लगभग उसी समय बृद्ध राजेन्द्र चोल का निधन हो गया (१०४४) और राजाधिराज गद्दी पर बैठा जिसने बेंगो के युद्ध को जोर-शोर से जारी रखा और धान्य कटक, कम्पिलि, गदगिर आदि स्थानों पर विजय प्राप्त की और कल्याणी को ध्वस्त किया। किन्तु सोमेश्वर भी विचार का इद्द था। उसने १०५० तक अपने देश से चोल सेनाओं को निकाल दिया और चोलों द्वारा नियुक्त बेंगो के राजा राजराज को समर्पण करने को विवश किया। राजाधिराज ने कृष्णा के प्रदेश में युद्ध किया जहाँ वह १०५४ में बुरी तरह धाया हुआ किन्तु उसके छोटे भाई राजेन्द्र द्वितीय ने स्थिति को सम्भाल लिया और कोल्हापुर में विजय प्राप्त की। वहाँ से वह अपनी राजधानी 'गंगईकोण्ड-चोलपुरम्' वापिस आ गया। तब उसे दो मोर्चों पर चालुक्य सोमेश्वर से युद्ध करना पड़ा और उसने १०६१ में पहिले बेंगो और फिर गंगवादी में उसे परास्त किया। राजेन्द्र द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका भाई वीर राजेन्द्र चोल १०६३ ई० में गद्दी पर बैठा।

चालुक्यों के साथ युद्ध बढ़ गया। वीर राजेन्द्र ने उन्हें सभी मोर्चों पर तुंगभद्रा विजयवाड़ा, गुट्टी और कम्पिलि में पराजित किया। १०६८ में रोम के कण्ट से तंग आकर सोमेश्वर ने तुंगभद्रा में हूत्र कर आत्महत्या कर ली। उसके बाद उसके भाई विक्रमादित्य ने चोल राजा से संधि करके स्थिति को अंशुल दिया। बेंगो के राजा विजयादित्य सप्तम ने भी समर्पण किया जो अपने प्रतिपक्षी राजेन्द्र के मुकाबले में सफल हुआ था। चालुक्य राजा सोमेश्वर ने विक्रमादित्य को राज्य के दक्षिणी भाग का अधिकार सौंप दिया और स्वयं वीर राजेन्द्र की पुत्री से विवाह कर लिया। इसी बीच में वीर राजेन्द्र ने श्रीविजय के एक राजकुमार को लंका की गद्दी पर बैठा कर वहाँ का विरोध दूर किया।

१०७१ ई० में उसकी मृत्यु के बाद स्थिति में अन्तर आया। उपेक्षित राजेन्द्र ने बेंगो पर अधिकार किया और वह कुलोत्तुंग प्रथम के नाम से अधिराजेन्द्र नामक राजा का वध करके चोल सिंहासन पर बैठ गया। छः वर्ष के सुदीर्घ युद्ध के परचाउ कुलोत्तुंग ने अपने शत्रु विक्रमादित्य पाण्ड्य को भगा दिया, जिसने सोमेश्वर द्वितीय की गद्दी से उतार कर १०७६ में स्वयं अपने आपको चालुक्य राजा घोषित किया।

कुलोत्तुंग की कठिनाई से उसके तन्त्रुओं ने लाभ उठाया। त्रिपुरा के हेहय राजा मयाकर्णदेव ने बेंगी को जीत लिया। लंका के विजय बाहु ने इसे चोल राज्य से मुक्त किया। पाण्ड्य और केरल में भी विद्रोह भभक उठा। अन्त में कुलोत्तुंग और विजय बाहु के बीच वैवाहिक संधि हो गई और इससे शान्ति स्थापित हो गई।

कुलोत्तुंग प्रथम ने चोल-पाण्ड्य उपराज्य को हटाकर वहाँ स्थानीय-प्रशासन जारी किया। इसके बाद वह भारत के बाहर के देशों की राजनीति में भाग लेने के लिए स्वतंत्र था। १०७७ ई० में ७२ व्यापारियों का एक चोल दूतमण्डल चीन भेजा गया। सुमात्रा से प्राप्त १०८८ ई० के एक तमिल शिलालेख से श्रीविजय के साथ चोल राज्य के सम्पर्क का साक्ष्य मिलता है। इसमें एक तमिल व्यापार-धेनी का उल्लेख है। श्रीविजय के राजा ने भी कुलोत्तुंग की सभा में अपने पूर्वजों द्वारा नामपटम् में बनवाये गए विहारों के मामलों पर बातचीत करने के लिए एक दूत-मण्डल भेजा।

कुलोत्तुंग ने अपने पुर्वा को बेंगी का वाइसराय नियुक्त किया और वह उनकी राजनीति में उलझ गया, उदाहरणार्थ अनन्तवर्मा चोड-गंग के कलिंग के आक्रमण के सम्बन्ध में। चोल आक्रमण का वर्णन एक तमिल कविता में उपलब्ध है। कुलोत्तुंगने कन्नौज, कम्बुज (हिन्दचीन) और पगन (बर्मा) जैसे सुदूर देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध रखे। वृडापे में उसे चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ के नये आक्रमण का सामना करना पड़ा जिसके फलस्वरूप उसे बेंगी और गंगवादी छोड़ने पड़े। १११८ ई० में कुलोत्तुंग के बाद उसका पुत्र विक्रम चोल गद्दी पर बैठा। विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु के बाद और सोमेश्वर तृतीय आदि उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के आगमन पर ११२७ ई० में उसने बेंगी और गंगवादी के कुछ भागों पर फिर से अधिकार कर लिया। उसके बाद उसका पुत्र कुलोत्तुंग द्वितीय और पीयूष राजराज द्वितीय क्रम से गद्दी पर आए और उन्होंने ११७३ तक राज्य किया। चोल साम्राज्य की शक्ति सामन्तों में बँट गई। अगला राजा राजाधिराज पाण्ड्य उत्तराधिकार के झगड़े में पड़ गया जिसमें लंका के राजा का भी हाथ था, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। ११७८ में कुलोत्तुंग तृतीय गद्दी पर बैठा। वह चोलवंश का अन्तिम महान नरपति था। वह लंका के बिष्ट पाण्ड्य राजनीति में उलझ गया। अन्त में उसका मित्र विक्रम पाण्ड्य अपने प्रतिद्वन्द्वी बीर पाण्ड्य के मुकाबले में जीत गया। किन्तु उसे उसके उत्तराधिकारी जटाधर्मा कुलशेखर को ११९० ई० में उसके विद्रोह के कारण दण्ड देना पड़ा और उसकी राजधानी मदुरा को स्वस्त करना पड़ा। एक और आक्रमण करके उसने चेर और होयसल राजा बल्लाल द्वितीय को परास्त किया और उनसे कोंगू और तगदूर के प्रदेश वापिस लिये। उसने नेल्लोर को भी जीत लिया जहाँ के लोगों ने उसका प्रभुत्व स्वीकार किया (११८७ ई०)। कांची और

बेगी में फिर से संघट्ट उठे किन्तु उसने उन्हें दवा दिया। इसके थोड़े समय बाद पाण्ड्य राजा मारुवर्मा सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (१२१६ ई०) ने आक्रमण करके और वृद्ध कुल्लुंग तृतीय और उसके पुत्र राजराज तृतीय को निर्वासित करके चोलराज्य को धक्का पहुँचाया। कुल्लुंग ने निर्वासित अवस्था में होयसल बल्लाल द्वितीय से सहायता की प्रार्थना की जिस पर सुन्दर ने कुल्लुंग को उसका राज्य लौटा दिया और १२१८ ई० में उसका निधन हो गया।

उसका उत्तराधिकारी राजराज तृतीय एक दुर्बल शासक था जिसके विरुद्ध उसके सामन्तों तेलुगु-चोड, वारंगल के काकतीय, होयसल और कादव आदि ने मिलकर विद्रोह किया। उस समय राजराज ने मूर्खता करके पाण्ड्य राजा सुन्दर के विरुद्ध आक्रमण कर दिया जिसने उसे पराजित करके उसकी रानी को छीन लिया। होयसल राजा नरसिंह द्वितीय उसकी सहायता के लिए आया। उसने सुन्दर को परास्त किया और कादव राजा पर घावा बोला जिससे दोनों ने आत्मसमर्पण किया और चोल राजा को उसका सिंहासन वापिस किया (१२३१ ई०)। इस प्रकार १२४३ ई० तक चोल, पाण्ड्य और होयसलों में शान्ति रही। १२४३ ई० में पाण्ड्य और चोल के विरुद्ध होयसलों ने हमला किया। किन्तु नये चोल राजा राजेन्द्र तृतीय की अपनी विजय-योजना थी जिसके अनुसार उसने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण करके मारुवर्मा सुन्दर द्वितीय को परास्त किया। उसकी पराजय पर होयसल राज सोमेश्वर (नरसिंह द्वितीय के पुत्र) ने हस्तक्षेप किया। पराजित राजेन्द्र तृतीय ने आत्म-समर्पण किया और पाण्ड्य जटावर्मा सुन्दर को १२५१ ई० में कर दिया। अब चोल शक्ति का ह्रास शुरू हुआ। इस पतन को पाण्ड्य मारुवर्मा कुलशेखर प्रथम द्वारा राजेन्द्र तृतीय और उसके होयसल मित्र की १२७७ ई० की पराजय ने तीव्र गति प्रदान की। इसके बाद चोल राज्य प्रायः समाप्त हो गया और पाण्ड्य साम्राज्य में विलीन हो गया, वैसा कि पहिले लिखा जा चुका है।

अब हम दक्षिण भारत की तीसरी शक्ति पल्लवों की चर्चा करेंगे। उनके प्रथम सरपति सिंहवर्मा का पता गुप्टर में प्राप्त प्राकृत शिलालेखों से चलता है। उसके बाद स्कन्दवर्मा का राज्य प्रारम्भ हुआ। जिसने कांची से तीसरी शती में कृष्ण और अरब सागर के मध्यवर्ती प्रदेश पर राज्य किया। और फिर विष्णुगोप और उसका सामन्त गालवक या उपसेन सामने आये जिनका उल्लेख समुद्रगुप्त के शिलालेख में मिलता है। इसके बाद सिंहविष्णु (५७५-६०० ई०) ने नये पल्लव राजवंश की नींव रखी। कावेरी तक के समस्त प्रदेश को जीतने के कारण उसे 'अर्वांसिंह' की उपाधि मिली। तत्पश्चात् महेंद्रवर्मा प्रथम, जो कवि और संगीतज्ञ था, और जिसकी

संगीत-रचना पुहुक्कोट्टाई की शिलाओं पर उत्कीर्ण है, राजसिंहासन पर आया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पुलकेशी द्वितीय ने उसके उत्तरी प्रदेश छीन लिए। उसके उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मा प्रथम महामल्ल (६३०-६८ ई०) ने इस हानि को पूरा किया। चालुक्य राज्य पर आक्रमण करके उसकी राजधानी वादासी पर अधिकार किया जहाँ पुलकेशी लड़ता हुआ मारा गया। उसके बाद उसने अपने नियुक्त किए मानवर्मा को लंका की गद्दी पर बैठाने के लिए वहाँ दो नाविक अभि-यान किए। उसने मामल्लपुरम् (महाबलपुरम्) के बन्दरगाह की मरम्मत कराई। परमेश्वरवर्मा (६७०-८० ई०) के राज्यकाल में चालुक्य पाण्ड्य और गंग का मेल हो जाने से संघर्ष बढ़ गया किन्तु उसने वादासी पर आक्रमण करके उनके संघ को विफल कर दिया। ६८१-७३३ ई० तक संघर्ष बन्द रहा।

नरसिंह वर्मा द्वितीय राजसिंह (६८०-७२० ई०) के राज्यकाल में शान्ति रही जिससे संस्कृति को प्रोत्साहन मिला। कांची को कैलासनाथ जैसे मन्दिरों से अलंकृत किया गया। मामल्लपुरम् में भी समुद्रतट पर मन्दिर बने। राजसभा की काव्यशास्त्री दण्डी ने विभूषित किया। चीन तक व्यापार के लिए दूतमण्डल भेजे गये।

परमेश्वर वर्मा (७२०-३३ ई०) के राज्यकाल में पल्लवों की चालुक्य आक्रमणकारी को कर देना पड़ा। उसके कोई सन्तान नहीं थी। मंत्रियों, नगर-वासियों और वहाँ की चटिका (विद्यालय) ने १२ वर्ष के नन्दिवर्मा द्वितीय को पल्लववंश की एक पास की शाखा से चुन कर उसका उत्तराधिकारी नियुक्त किया और पाण्ड्य राजसिंह प्रथम (७३०-६५ ई०) की सहायता के मिलने पर भी चित्र-माय नामक दावेदार को गद्दी से उतार कर मार डाला। शबर, निपाद आदि स्थानीय विद्रोही दबा दिये गए। नन्दिवर्मा द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ किया किन्तु अपने पुराने शत्रु चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय और गंग श्रीपुण्य के हाथों हार खाई, जिन्होंने ७४० ई० में कांची पर कब्जा किया। किन्तु नन्दिवर्मा ने फिर से राज्य वापिस ले लिया और वह अपनी गद्दी पर बैठ गया। कांची पर एक और आक्रमण करके विक्रमादित्य हाथी, सोना, रत्न आदि बहुत-सा सामान लूट कर ले गया।

राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने ७५० ई० में कांची पर एक और आक्रमण किया किन्तु पल्लवमल्ल के साथ उसकी पुत्री रेवा के विवाह के रूप में इसका उपसंहार हुआ।

नन्दिवर्मा ने ७७५ ई० में गंग राजा श्रीपुण्य को परास्त किया किन्तु पाण्ड्य राजा जटिल परान्तक वरगुण प्रथम (७६५-८१५ ई०) के आक्रमण के फलस्वरूप हार खाई और उसे अपना बहुत बड़ा प्रदेश दे दिया, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है।

नन्दिवर्मा द्वितीय पल्लवमल्ल ने ७९५ ई० तक राज्य किया। उसने कांची में

वैकुण्ठ पेरुमाल का मन्दिर बनवाया और उसे अपने अभिषेक तक के पल्लव इतिहास को चित्रित करने वाले फलकों से अलंकृत कराया ।

उसके पुत्र दन्तिवर्मा (७९५-८४५ ई०) के पाण्ड्य आक्रान्ता वरगुण प्रथम को संजोर, विचनापली आदि दक्षिण के बहुत-से प्रदेश समर्पित करने पड़े । किन्तु उसके राज्य में बड़ी सांस्कृतिक उन्नति हुई । सुन्दरमूर्ति और केरल राजा चेरमान पेरुनाल और प्रसिद्ध शैव नायनारों ने भक्ति के आन्दोलन को चलाया । केरल में महान् शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ ।

दन्तिवर्मा के बाद उसका पुत्र नन्दिवर्मा तृतीय (८४४-६६ ई०) गद्दी पर बैठा, जिसने पाण्ड्य राजा श्रीमार श्रीवल्लभ की शक्ति को क्षीण करने के लिए गंग, चोल, राष्ट्रकूट और लंका के राजाओं से संधि की और उसे उत्तरी अर्कोट के युद्ध में परास्त किया किन्तु उसके हाथों नन्दिवर्मा ने स्वयं कुम्बकोनम् के युद्ध में ८५९ ई० में हार खाई । उसके पास नौसेना थी जिसके द्वारा उसने मलाया प्रायद्वीप से सम्पर्क रखा जैसा कि एक तालाब से प्रतीत होता है, जिसका नाम उसकी एक उपाधि पर आधारित है ।

८६० ई० में उसका पुत्र नृपतुंग उसके बाद गद्दी पर बैठा जिसने श्रीमार पाण्ड्य को हरा कर अपने पिता की पराजय का बदला चुकाया । उसी समय लंका के राजा सेन द्वितीय ने उसकी राजधानी मदुरा को ध्वस्त किया ।

बृहत्तर भारत

प्राचीन भारतीय इतिहास का एक रोचक पक्ष भारत की सीमाओं से परे के देशों के जीवन और संस्कृति पर उसका प्रभाव है। इन देशों में भारतीय दर्शनों और विचार-पद्धति का प्रवेश हुआ जिसके फलस्वरूप वहाँ भारतीय शैली की संस्कृति फैलाने लगे और वह एक प्रकार का बृहत्तर भारत बन गया। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम मैने अपनी 'भारत की मौलिक एकता' (लन्दन, १९१४) नामक पुस्तक में किया था। डॉ० एफ० डब्ल्यू० टॉमस ने इसे भारतीय औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार के विस्तृत क्षेत्र को सूचित करने का "अत्यन्त उपयुक्त शब्द" बताया।

यह विषय बड़ा विस्तृत है और यहाँ केवल कुछ आवश्यक तथ्यों के आसार पर इसकी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत की जाती है। कालक्रम की दृष्टि से ई० पू० भारत के सांस्कृतिक प्रसार का प्रथम तथ्य शाम से प्राप्ता १४०० ई० पू० से पहिले के शिलालेखों में मिलता है जहाँ ऋग्वैदिक देवता इन्द्र, वरुण, मित्र और अश्विनों की पूजा का उल्लेख है।

विदेशों से भारतीय सम्पत्तियों का इससे भी अधिक प्राचीन प्रमाण प्राचीन शाम के अर नामक नगर में २५०० ई० पू० से पहिले नीलगिरि की पहाड़ियों से निकले भारतीय हरे पत्थर का आघात और इसके अवशेषों में भारतीय समान के प्रयोग से मिलता है।

इंग्रजी की एक पुरानी परम्परा के अनुसार सुलेमान को भारत से लाये हुए बन्दर, मोर और हाथीदाँत भेंट किये गए थे। मैंने इन्हें काहिरा के संग्रहालय के मुतान-खानेम संग्रह में देखा है।

बावेल जातक में, जिसकी तिथि रजि डेविड्स ने छठी शती ई० पू० निश्चित की है, लिखा है कि भारतीय व्यापारी सुले समुद्र में यात्रा करते हुए भूमि से ओसल हो आया करते थे और बाबुल में भारतीय मोर ले आया करते थे। ऐतिहासिक युग में आते हुए हम २५४ ई० पू० (अशोक के राज्य का सोलहवाँ वर्ष) पर पहुँचते हैं जब अशोक ने तीसरी बौद्ध संगीति (समागम) बुलाई जहाँ पवन, सुवर्ण-भूमि और लंका (साम्राज्यी अथवा सिंहल) आदि सुदूर देशों में दूतमण्डल भेजकर और विजेपतः लंका में अशोक के पुत्र और पुत्री को भारतीय धर्म-दर्शन (बौद्ध-धर्म) के स्थायी प्रचारक के रूप में नियुक्त करके बृहत्तर भारत के निर्माण में एक बड़ा कदम उठाया गया। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है अशोक ने अपने तरहसे शिक्षालय में पाँच गोन (पुतानी) देशों का उल्लेख किया, जहाँ उसके पुत्रों अथवा सांस्कृतिक प्रतिनिधियों ने भारतीय विचार-पद्धति—धर्मेन्द्रिय (अहिंसा) और दिव्य-शान्ति एवं धन्यत्व—का सदेश पहुँचाया।

अशोक के बाद समुद्रगुप्त की प्रपाग-प्रशस्ति में सिंहल और सब द्वीपवासियों से उसके संबंधों का उल्लेख मिलता है। इन संबंधों के फलस्वरूप लंका के राजा महामेधवर्ण ने, समुद्रगुप्त की अनुमति से, बोधगया में सिंहलवासियों के निवास की सुविधा के लिए ३५० ई० में एक विहार स्थापित किया।

तब भारतीय विचार-पद्धति विदेशों में हिन्दू उपनिषदों की स्थापना की सुनियमित प्रक्रिया के रूप में फैलने लगी। समत्व और समज्ञा के सिद्धान्त से इस प्रसार की बड़ी सहायता मिली। उदाहरणार्थ महाभारत जैसे भारतीय ग्रन्थ में एक विश्वजनीन दृष्टिकोण मिलता है। इसमें यवन, किरात, गन्धार, तुषार, पल्लव आदि आर्य राज्यों की पारिधि से घरे रहने वाले विदेशी लोगों में वैदिक यज्ञ-मान का विधान किया गया है। इस प्रकार हिन्दू समाज में अन्य देशों और समुद्रपार के लोगों को आत्मसात् करने का एक सफल मार्ग खूल गया।

हा-ह्यान और श्वात-चाङ जैसे यात्रियों को भारत और चीन के बीच के स्थलमार्ग पर बौद्ध और ब्राह्मण संस्कृति के अनेक केन्द्र मिले। इससे पहिले चौथी शती ई० में समूचे पूर्वी तुर्किस्तान में काशगर से चीन की सीमाओं तक वहाँ के राजमार्गों के किनारे-किनारे मध्य तक लामकान की मरुभूमि के उत्तर और दक्षिण में बसी हुई वस्तियों में भारतीय संस्कृति के अनेक साधन विद्यमान थे। ये राजमार्ग चीनी सीमाओं पर तुन-ह्वांग और यू-मेन-बवान नामक स्थानों में जाकर मिल जाते थे। अफगानिस्तान, सीसतान और बक्व में बौद्ध मन्दिरों के अवशेष मिले हैं।

अफगानिस्तान में १०० ई० पू० के बाद के शिलालेख पाये गये हैं।

बामियान में गुहाओं को बौद्ध मन्दिरों का रूप दिया गया है और चट्टानों को १७५ फुट और १२५ फुट ऊँची विशाल बौद्ध मूर्तियों का रूप दिया गया है। सुग्ध (समरकन्द और बुखारा) में स्थानीय सुग्धी भाषा में बौद्ध ग्रन्थ लिखे गए। सेनी-हुन (सघमन) नामक सुग्धी विद्वान् ने तीसरी शती ई० में चीन जाकर कुछ बौद्ध शास्त्रों का अनुवाद किया। इसी प्रकार मध्य-एशिया के मुझुर तुर्कों का अपना स्वतंत्र बौद्ध साहित्य था। इसी प्रकार ओक्सियाना का अपना साहित्य था। चीन के राजमार्ग पर निम्नलिखित स्थानों पर भारतीय प्रभाव प्रमुख था : (१) कूचि—यहाँ के राजा स्वर्णदेव (स्वर्णदेव) अपना स्वर्णपुष्प भारतीय नाम धारण करते थे। यहाँ बहुत-से स्तूप और मन्दिर थे। यहाँ पर १८८९ में प्रसिद्ध श्रावर्द्धिक ग्रन्थ 'बाबर लिपि' का पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। (२) खोतान—यह भोमती विहार के लिए प्रसिद्ध था जहाँ फा-ह्यान को ३,००० बौद्ध भिक्षु मिले। वहाँ खरोष्ट्री लिपि में लिखे धम्मपद और सद्धर्मपुण्डरीक जैसे प्रसिद्ध भारतीय ग्रन्थ मिले हैं। (३) दन्दा-ओइलीक—वहाँ सर ऑरल-स्टाइन को ब्राह्मी लिपि में लिखे भित्तिचित्र मिले और बौद्ध पूजा के सामान और गुप्त ब्राह्मी लिपि में लिखी पोथियों के पत्रे, जिनमें से एक पत्रे पर १३२ अक्ष मिले हैं, प्राप्त हुए। (४) गिया—यहाँ ५०० लिखी हुई तस्तिषा, श्रैकड़ी लकड़ी के फट्टे जिन पर हिसाब-किताब और मोटे-मुहावे लिखे हैं और 'महानुप महाराज लिखित'—महानुभावी महाराजों लिखित (महाराजा लिखित हैं) आदि प्राकृत भाषा के खरोष्ट्री लिपि में ब्रम्हदे पर लिखे लेख मिले हैं। (५) तुन-हुवाक (सहस्र बुद्धों की गुफाएँ)—यहाँ का बौद्ध पाण्डुलिपियों का पुस्तकालय और ब्राह्मण और बौद्ध विषयों से संबंधित गुहाचित्र, जैसे एक पक्षी को बचाने के लिए राखा शक्ति द्वारा अपने मोर के दान का चित्र, प्रसिद्ध हैं। यहाँ धर्मरक्ष नामक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् का निवास-स्थान था जिसने संस्कृत और चीनी जैसे ३६ भाषाओं का पाण्डित्य प्राप्त किया था।

वस्तुतः भारत और चीन के संबंधों का लम्बा इतिहास दूसरी शती ई० पू० में आरम्भ होता है। भारत के विभिन्न राज्यों से जाकर चीन में बसे अनेकानेक भारतीय विद्वानों ने इस सम्पर्क को अधुण्य रखा। इन विद्वानों का उत्तम उदाहरण कुमारजीव है। उसका पिता कूचि के राजा का मुखिया और उसकी महान जीवा से उसने विवाह किया। कुमारजीव बौद्धधर्म का अध्ययन करने के लिए कश्मीर आया, वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए काशगर गया और तागार्जुन, आर्यदेव और अन्य विद्वानों के महायान ग्रन्थों को पढ़ने के लिए पारकान्य में रहा। तब वह ४०१ ई० में कूचि लौट गया जहाँ से उसे चीनी राजधानी में लेजाकर संस्कृत ग्रन्थों को चीनी में भाषान्तरित करने के लिए एक विद्वग्मण्डल का अध्यक्ष बना दिया

गया। उसने १०० से अधिक ग्रन्थों का अनुवाद किया और ४२१ ई० में शरीर छोड़ा। ५२६ ई० में दक्षिणी भारत से बोधिचर्म और ५४६ ई० में उज्जयिनी से परमार्थ चीन पहुँचा।

एक अन्य विद्वान् बोधिरत्नि ६९३ ई० में चालुक्य राजसभा में नियुक्त चीनी राजदूत के साथ मालन्दा से चीन गया। एक अनुवादक-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में उसने ५३ ग्रन्थों का अनुवाद किया। ७२७ ई० में उसका देहान्त हुआ। उसके साथी अनुवादकों में पूर्वी भारत का ईश्वर और दक्षिणी भारत के प्राणगुप्त और धर्म थे। हमें धर्मदेव और उसके साथियों का भी उल्लेख करना चाहिए जिन्होंने ९८२ और १०११ ई० के बीच चीनी भाषा में २०० भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद करके चीनी बौद्ध साहित्य को समृद्ध किया।

डॉ० एफ० डब्ल्यू० टॉमस ने चीन में बौद्धधर्म की प्रगति को व्यक्त करने के लिए निम्नलिखित आँकड़े दिए हैं : "तीसरी शती ई० में चीन में १८० विहार, ३,७०० भिक्षु और १३ भारतीय अनुवादक थे जिन्होंने ७३ भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद किया। चौथी शती में १७,०६८ मठ-मन्दिर थे और २७ अनुवादकों ने २६३ ग्रन्थों का भाषान्तर किया। छठी शती में चीन में ३,००० भारतीय बसे थे। (इण्डियनिज्म एण्ड इट्स एक्सपेन्डन, पृ० ९३-९४)।

भारतीय संस्कृति का प्रसार इसी प्रकार पूर्व में समुद्रपार चम्पा, कम्बुज, स्वाम्, हिन्द-चीन के अन्य भाग, बर्मा, खाड़ी के पार मलाया प्रायद्वीप आदि एशियाई महाद्वीप के देशों और जावा, सुमात्रा, कोर्निओ और बाली आदि द्वीपों में जारी था जिसके फलस्वरूप अग्निपुराण के अनुसार जम्बुद्वीप से अलग एक 'द्वीपान्तर भारत' का आविर्भाव हुआ। यही भाव आधुनिक शब्द इण्डोनेशिया से आनिव्यक्त होता है। 'नेशिया' का अर्थ 'द्वीप' है इसलिए इण्डोनेशिया का अर्थ 'भारतीय द्वीप' होता है। कामन पुराण में लिखा है कि ये द्वीप वैदिक यज्ञों (इज्या) द्वारा पवित्र हो गये थे (उतपावनाः)। इस उल्लेख का प्रमाण ४०० ई० की पल्लव-ग्रन्थ लिपि के शिलालेखों से मिलता है जिन्हें वानिओ के राजा मूलवर्मा ने बहुसुवर्णकपज करके सात यज्ञपूर्ण पर उत्थानित कराया और जिनमें इस यज्ञ का वर्णन किया। कम्बुज के राजा पूर्ववर्मा ने महाहोम किया। इसी प्रकार प्रत्येक बट में अग्निगृह (वह्नि-गृह) होता था।

सामान्यतः यह उल्लेखनीय है कि समस्त 'बृहत्तर भारत' अथवा जिमार के शब्दों में 'भारतीय एशिया' में स्थानीय ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद और रूपान्तरों द्वारा संस्कृत का प्रसार हुआ। भारत से बोया हुआ बृहत्-सा बौद्ध संस्कृत साहित्य तिब्बती और चीनी भाषान्तरों में प्राप्त हुआ है। तिब्बती अनुवादों में मौलिक संस्कृत ग्रन्थों का शब्दतः भाषान्तर मिलता है। चीनी विपिटक

में बहुत-से ऐसे संस्कृत ग्रन्थों का भी अनुवाद मिलता है जो तिब्बती अनुवाद में प्राप्त नहीं हैं। मंगोली, मञ्जरी, कोरियाई और जापानी भाषाओं में भी संस्कृत ग्रन्थों के कुछ अनुवाद मिलते हैं।

भारत ने समुद्र द्वारा हिन्द-एशिया (इन्दोनेशिया) से सम्पर्क स्थापित किया। हिन्द-चीन, बर्मा, जावा, मलाया और बर्मा के सबसे पुराने शिलालेख संस्कृत भाषा में हैं और ब्राह्मी लिपि की दक्षिण भारतीय शैली में लिखे गए हैं। इन देशों में दूसरी शती ई० की अमरावती शैली की बौद्ध प्रतिमाएँ भी मिलती हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इन देशों में जो भारतीय पहुँचे वे दक्षिणी भारत के पूर्वी तट से गये। बाद में जावा के ग्रन्थों के अनुसार गुजरात और कलिंग, बंगाल, नालन्दा से भी बहुत-से लोग वहाँ जा बसे जैसा कि गुप्त और पाल कला-शैली के निदर्शनों से ज्ञात होता है।

अब हम इन देशों पर भारतीय प्रभाव के कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों और प्रमाणों का उल्लेख करेंगे :

बर्मा में हिन्दू वस्तुयाँ प्रथम शती ई० से पहिले ही स्थापित हो गई थीं। वहाँ के नगरों और राजाओं के नाम, उदाहरणार्थ श्रीक्षेत्र और श्यामल, भारतीय थे।

थातोन और पीगू को सुवर्णभूमि कहते थे। तीसरी शती ई०

बर्मा में मध्य-बर्मा में एक लाभ से अधिक बौद्ध परिवारों और कई हजार भिक्षुओं की आबादी थी। शिलालेख संस्कृत और पाली में लिखे जाते थे। रंगून से पीगू तक का प्रदेश उत्कलदेश कहलाता था और छठी शती के हिन्दू मोन राज्य का नाम द्वाशवती था। भक्तों से बर्मा में बौद्ध, वैष्णव, हीनयान, महायान और तथ आदि प्रमुख भारतीय धर्मों के प्रचार का साक्ष्य मिलता है।

पेगन के राजा अनिरुद्ध ने बरेखादी बौद्धधर्म का अनुसरण किया और अनेक मन्दिर, मठ और पेगोडा बनवाए। उसके उत्तराधिकारी क्वांनजित्त ने 'आनन्द' नामक प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर बनवाया जो पेगन का गर्व और भारतीय कला की अद्भुत हृति है।

प्रथम हिन्दू उपनिवेश का नाम द्वाशवती था जहाँ भारतीय मूर्तियाँ, जैसे धर्मचक्र और हरिण आदि पाये जाते हैं। एक प्रसिद्ध राज्य चूआन था जिसे गम्हार कहते थे और जहाँ भारतीय नामधारी स्वामी का बाहुल्य था। स्पास (थाईलैण्ड) द्वाशवती और सालवीन नदियों के बीच का सारा प्रदेश कोनाम्बी कहलाता था। सुलोव्य और अयोध्या के दो बड़े राज्य भी बौद्धधर्म, कला और पाल भाषा के केन्द्र थे।

इसे चीनी लेखकों ने कुन्तान कहा है। इसे ब्राह्मण कौण्डिन्य ने आबाद किया। वहाँ हिन्दुओं की भारी बस्ती थी जिसमें वेद, जाति, वैष्णवधर्म, शैवधर्म,

कम्बुज भारतीय देवताओं की मूर्तियाँ और मन्दिरों का प्रचार हुआ।

(आधुनिक छठी शती में कृतांत कम्बुज का अंग बन गया। इसका प्रसिद्ध कम्बोदिया) नगर अंकोर-वोम (नगर-धाम) था। यशोवर्धन (८८९ ई०)

के नेतृत्व में कम्बुज एक साम्राज्य बन गया और भारतीय संस्कृति का केन्द्र हो गया। वहाँ के राजा संस्कृत के पण्डित थे। एक राजा ने पतञ्जलि के महाभाष्य की टीका लिखी और मन्दिर, आराम और मठ बनवाए। उसका उत्तराधिकारी सूर्यवर्मा द्वितीय (१११३-११४५ ई०) अंकोर-वाट नामक वैष्णव मन्दिर का, जिसे इसकी दीपियाँ, शिखरों, पिरामिडों के कारण संसार का एक आश्चर्य कहा जाता है, महान् निर्माता था। यह मन्दिर एक २½ मील लम्बी और ६५० फुट चौड़ी नहर द्वारा सुरक्षित था। इसकी खुदाई और मूर्तिकला के विषय भारतीय रामायण और महाभारत से लिये गए हैं किन्तु इसकी मूर्तियों के कुछ विशिष्ट कलात्मक लक्षण हैं जिनमें मूर्तियों के मुखमण्डल पर 'अंकोर की मुसकान' उल्लेखनीय है। सूर्यवर्मा ने कोटिदलहोम और महाहोम आदि ब्रह्म किये। उसके उत्तराधिकारी जयवर्मा द्वितीय (११८१ ई०) के राज्यकाल में भारतीय संस्कृति की प्रगति चरम सीमा पर पहुँची। उसने नया अंकोर वोम बनवाया जहाँ बायोन की मन्दिर कला का सुन्दर निदर्शन है। उसके द्वारा बनवाये गए एक मन्दिर में ६६,६२५ सेक, ४३९ शिखर, ९७० विद्यापीरहृत थे और उनके पोषण के लिए ३,४०० गाँवों का अनुदान दिया गया था। समस्त राज्य में ७१८ मन्दिर और १०२ चिकित्सालय थे।

कम्बुज विप्रचाला, राध, आरोग्यमाला, महिनगुह आदि भारतीय संस्कारों के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ के मन्दिरों में भारतीय काव्यों—रामायण और महाभारत का पाठ होता था। नवीं शती ई० से पहिले के शिलालेखों में शब्द, वैशेषिक, न्याय, समीक्षा, अर्थशास्त्र, काव्य, रघुवंश, सेतुबन्ध, मयूर कवि के सूर्यवतक और प्राकृत लेखक गुणादय की कृतियों के अध्ययन का उल्लेख मिलता है।

भारत और कम्बुज में दोनों ओर से आदान-प्रदान हुआ। नवीं शती के एक शिलालेख में राजकुमार शिष्यश्रीम का उल्लेख है जो शास्त्र पढ़ने के लिए भारत आया था। इसने स्वयं "भगवान् शंकर से दोषा ली जिनके धरणाखिन्द में भाषि विर जुकाते थे।" भारतीय संस्कृति के केन्द्र आश्रम ने जिनकी स्थापना कम्बुज राजाओं ने उदात्तापूर्वक की थी।

सबसे प्राचीन चम्पा का हिन्दू राजा दूसरी शती ई० का थीमार था। उसके उत्तराधिकारी भद्रवर्मा ने जो अमरावती, विजय और पाण्डुरंग के तीनों प्रान्तों पर

राज्य करता था माइसोन में भद्रेश्वर स्वामी का शैव मन्दिर चम्पा (अधम) स्थापित किया जो चाम लोगों का राष्ट्रीय देवस्थान बन गया। इन्द्रवर्मा तृतीय (९१० ई०) एक प्रतिभाशाली संस्कृत विद्वान् था जिसने पाणिनि, काशिका, षट्दर्शन और बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया।

चम्पा के भारतीय प्रवासी प्रायः ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। उनकी भाषा संस्कृत थी जो सैकड़ों शिलालेखों में व्यवहृत है और वे शैवधर्म के मानने वाले थे। वहाँ शक्ति, गणेश, कार्तिकेय, नन्दी, विष्णु, राम, कृष्ण, लक्ष्मी, गरुड़, ब्रह्मा, जम, चन्द्र, सूर्य और सरस्वती के भी मन्दिर थे। बौद्ध-दुर्गोत्त बौद्धधर्म का केन्द्र था और माइसोन और पो-नगर शैवधर्म के स्थान थे। चम्पा की कला में मामल्लपुरम् की कला का अनुकरण मिलता है।

चीची-पाँचवीं शती के संस्कृत शिलालेखों से मलाया प्रायद्वीप के उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी भागों में हिन्दू उपनिवेशों की स्थापना का प्रमाण मिलता है।

ये हिन्दू उपनिवेश निम्नलिखित थे - (१) लकाशुक जो पूर्वी मलाया समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक प्रायद्वीप के आरपार बसा था।

यहाँ ५१५ ई० में भगदत्त नामक राजा राज्य करता था, (२) ताम्बलिंग, जिसकी राजधानी लिमोर बन्दोन की खाड़ी पर स्थित थी। लगभग छठी शती ई० के एक शिलालेख में बौद्ध और ब्राह्मण देवताओं, पारमिताओं और अगस्त्य की उपासना और तल्लवंची संस्थाओं के लिए दिये गए अनुदानों का उल्लेख है। केदाह और पेन्गक के नगर बौद्ध और ब्राह्मण पुरातत्त्व सामग्री से भरे हैं। केदाह के शिखर से महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति, नन्दों का शिर, शैव उपादान आदि मिले हैं और निकटवर्ती एक इमारत से संस्कृत भाषा और दक्षिण भारतीय लिपि में दो बौद्ध पद्याँ का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। उसी लिपि में लिखे एक अन्य शिलालेख में महानाविक बूडगुप्त का उल्लेख है जो मुंशिदाबाद जिले के रंगामाटी प्रदेश से आया था। केदाह से एक और भी शिलालेख मिला है जिसमें महापान्त-संघी तीन संस्कृत पद्य हैं। पेरक से बाकाटक लिपि में एक सूत्रा मिली है जिस पर 'श्री-विष्णु-नम्मैस्य' लेख खुदा है। उत्तरी लकाशुक के राजा पान-पान ने ४२४-५३ ई० के बीच में चीन में भारत के ब्राह्मणों का एक दूतमण्डल भेजा जिसे वहाँ के राजा ने बहुत-सा दान-सम्मान दिया।

इसके बाद हिन्दू और बौद्धधर्म जावा, सुमात्रा, बोर्नो, बाली आदि भारतीय द्वीप-समूह के द्वीपों में फैल गए जैसा कि वहाँ के संस्कृत शिलालेखों,

सुवर्णद्वीप (हिन्नेशिया भाषा, साहित्य, धर्म, कला और सामाजिक संस्थाओं अथवा द्वीपान्तर भारत) से प्रकट होता है।

तुमावा में चौथी शती ई० में श्रीविजय नामक हिन्दू राज्य की स्थापना हुई। सातवीं शती ई० में ई-चिह्न ने यहाँ बौद्धधर्म के केन्द्र देने से जिन्हें भारतीय समुद्री श्रीविजय व्यापार से प्रोत्साहन दिया था।

एक और भारतीय उपनिवेश था जहाँ के राजाओं के शिलालेखों से वैदिक बोनियो यज्ञों के अनुष्ठान का साध्व्य मिलता है, जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है।

सुदीर्घ काल से वाली प्रमुखतः हिन्दू बना रहा है। वहाँ के लोग हिन्दू संस्कार करते हैं और शिव, गणेश, नन्दी, नन्दीस्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल आदि वाली देवताओं की मूर्तियों की पूजा करते हैं। वहाँ वैदिक देवता वरुण के तीन मन्दिर हैं।

जावा भारतीय प्रभाव का प्रमुख स्तम्भ है जैसा कि मन्दिरों और कला से प्रकट होता है। मध्य जावा में हिन्दू मन्दिरों के समूह (चण्डी), उदाहरणार्थ भीम-चण्डी, अर्जुनचण्डी, पाये जाते हैं। वहाँ कलासन, मेन्दूत और जावा पावोन में बौद्ध चण्डिया भी हैं जिनका पूर्ण विकसित रूप बोरो-बोदूर की चण्डी में दृष्टिगत होता है। इस चण्डी में ४०० बुद्ध मूर्तियाँ और १,४०० खुदाई के काम के फलक हैं। इनमें बुद्ध की जीवनी और जातकों के अनुसार उनके पूर्व-जन्मों की कथाएँ उल्लिखित हैं। वहाँ अमिताभ और वैरोचन आदि ध्यानी बुद्धों और मंत्रेय, मंजुश्री और अवलोकितेश्वर जैसे बोधिसत्वों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। मंत्रेय का एक व्यक्ति से बात करते हुए दिखाया गया है जो सम्भवतः असंग है जिसे उन्होंने कुछ बौद्ध शास्त्रों का उपदेश दिया था। वह सारा स्तूप महायान बौद्धधर्म का मूर्तिमान प्रदर्शन है। इसकी तली में स्थित ८४२ ई० के एक शिलालेख में इसका नाम भूमिसम्भार लिखा हुआ है और ८२४ ई० के एक अन्य लेख में रीलेन्द्र राजा समरानुग को इसका निर्माता बताया गया है।

जावा के अन्य उल्लेखनीय बौद्ध मन्दिरों में चण्डी सेवी (सह्य मन्दिर), जो चार प्रक्षिप्तियों में २४६ छोटे मन्दिरों के समूह से आवेष्टित है, और चण्डी प्लाओ-सोन, जहाँ तारा और पद्मपाणि की कलात्मक प्रतिमाएँ मिलती हैं, प्रमुख हैं।

जावा में हिन्दू-मन्दिर भी थे। बोरोबोदूर के निकट चण्डीवेयोन से विष्णु, शिव, ब्रह्मा, गणेश, अगस्त्य आदि की कलापूर्ण मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रम्बन्तम (बङ्गवन्तम्) चण्डी लोरो जंगरंग नामक जीव मन्दिर और इससे मिले हुए १५६ छोटे मन्दिरों के विशाल समूह के लिए प्रसिद्ध है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव के मन्दिर, बोरोबोदूर के समान रामायण और कृष्णचरित के दृश्यों से अंकित खुदाई के काम के फलक और शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, महिषासुरमर्दिनी और शेषशायीविष्णु

की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। डॉ० आनन्द कुमारस्वामी ने प्रम्बानम् के इस खुदाई के काम को कला की दृष्टि से बोरोबोदुर से भी श्रेष्ठ माना है।

एशिया के बहुत-से देशों में ऐसी कलाकृतियाँ मिलती हैं जिनके विषय भारतीय हैं और जिनसे भारतीय विचार पद्धति के उस प्रभाव का ठोस साक्ष्य मिलता बृहत्तर भारत जिसके कारण बिमर की धन्दावली के अनुसार वे एक प्रकार में भारतीय के 'भारतीय एशिया' बन गये थे। यहाँ हम कुछ उत्कृष्ट कला-कला निदर्शनों का उल्लेख करते हैं:

कोरिया : (१) आठवीं शती की सुक्कुतोन की गुहा में पाया हुआ बुद्ध प्रतिमा, (२) सोलहवीं शती का मुद्राबद्ध चित्रित बुद्ध, (३) चौदहवीं शती की कान्से की बुद्ध मूर्ति जिसके दोनों ओर बोधिसत्वों की मूर्तियाँ हैं।

जापान : (१) सातवीं-आठवीं शती ई० की होरोपुजी मठ की लकड़ी की बोधिसत्व मूर्ति, (२) ६२५ ई० की कान्से की बुद्ध-मूर्ति, (३) १००० ई० का कोयासाम का २५ बोधिसत्वों सहित अमिताभ का चित्र, (४) १०८६ ई० का परित्सोण का भित्तिचित्र, (५) नवीं शती की लकड़ी की भिक्षु-मूर्ति, (६) १२५३ ई० की कामाकुरा की विष्णु कान्से की बुद्ध-मूर्ति, (७) आठवीं शती की नारा की लाख की बनी वैरोचनध्यानी बुद्ध की मूर्ति, (८) नवीं शती की मुन-योजी मठ कयोटी की बनी लड़की की बोधिसत्व की मूर्ति।

मध्य-एशिया : (१) आठवीं शती ई० के किजिल से प्राप्त देव और मन्धवों के भित्ति-चित्र, (२) स्यारहवीं शती ई० का चोरचक से प्राप्त 'महाप्रस्थान' का भित्ति-चित्र, (३) बारहवीं शती ई० का वाजालीक से प्राप्त 'सामन्तों का समूह' शीर्षक भित्ति-चित्र, (४) आठवीं शती ई० का किजिल से प्राप्त 'भिक्षु' शीर्षक भित्ति-चित्र, (५) ८५० ई० का रेशम पर अंकित बोधिसत्व का चित्र।

चीन : (१) छठी शती ई० की लुंग-मन के मन्दिर से प्राप्त पत्थर का बुद्ध-शीर्ष, (२) वहीं से प्राप्त बैठे बुद्ध की प्रतिमा, (३) वहीं से प्राप्त साँचे में स्थित बुद्ध-मूर्ति, (४) फू-क्यान से प्राप्त कान्से की पञ्चात्तापमुद्रा में बुद्ध की मूर्ति, (५) छठी शती ई० की पत्थर की आनन्द की प्रतिमा, (६) लाख के काम की शाक्य-मुनि की मूर्ति, (७) नवीं शती ई० का तुन-ह्वान की गुफा से प्राप्त माया के स्वप्न का चित्र, (८) वहीं से प्राप्त रेशम पर 'चार मिलन' शीर्षक चित्र, (९) वहीं से प्राप्त रेशम पर छन्दक और कल्पक की विदाई का चित्र, (१०) वहीं से प्राप्त रेशम पर भिक्षुओं के साथ बोधिसत्व का चित्र, (११) वहीं से प्राप्त रेशम पर वतुप्रतिगोमिता का चित्र, (१२) वहीं से प्राप्त रेशम पर 'चार मिलन' का चित्र।

कम्बुज : (१) अकोर-धोम में बेयान से प्राप्त तेरहवीं शती की छज्जे पर की मूर्ति, (२) बारहवीं शती की बुद्ध का मिर।

बाइलैण्ड : (१) रेदाम पर चित्रित कपिलवस्तु से प्रस्थान का चित्र ।

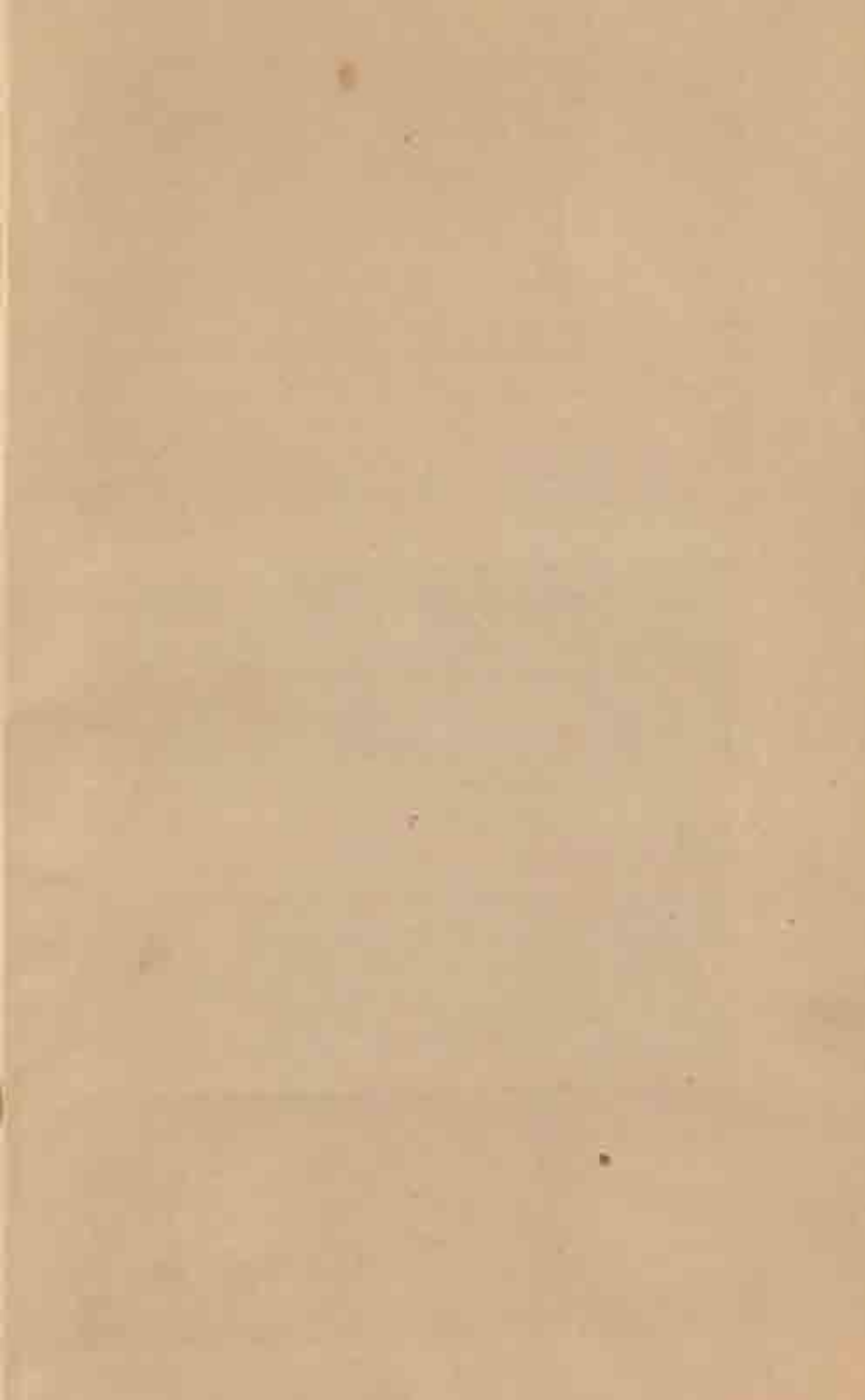
बर्मा : (१) पेंगन के आनन्द पेगोडा (आनन्द मन्दिर) से प्राप्त पकी हुई भिट्टी की 'चार मिलन' शीर्षक मूर्ति, (२) वहाँ से प्राप्त ग्यारहवीं शती की 'शिरोमुण्डन' शीर्षक मूर्ति, (३) वहाँ से प्राप्त महलों के दृश्य ।

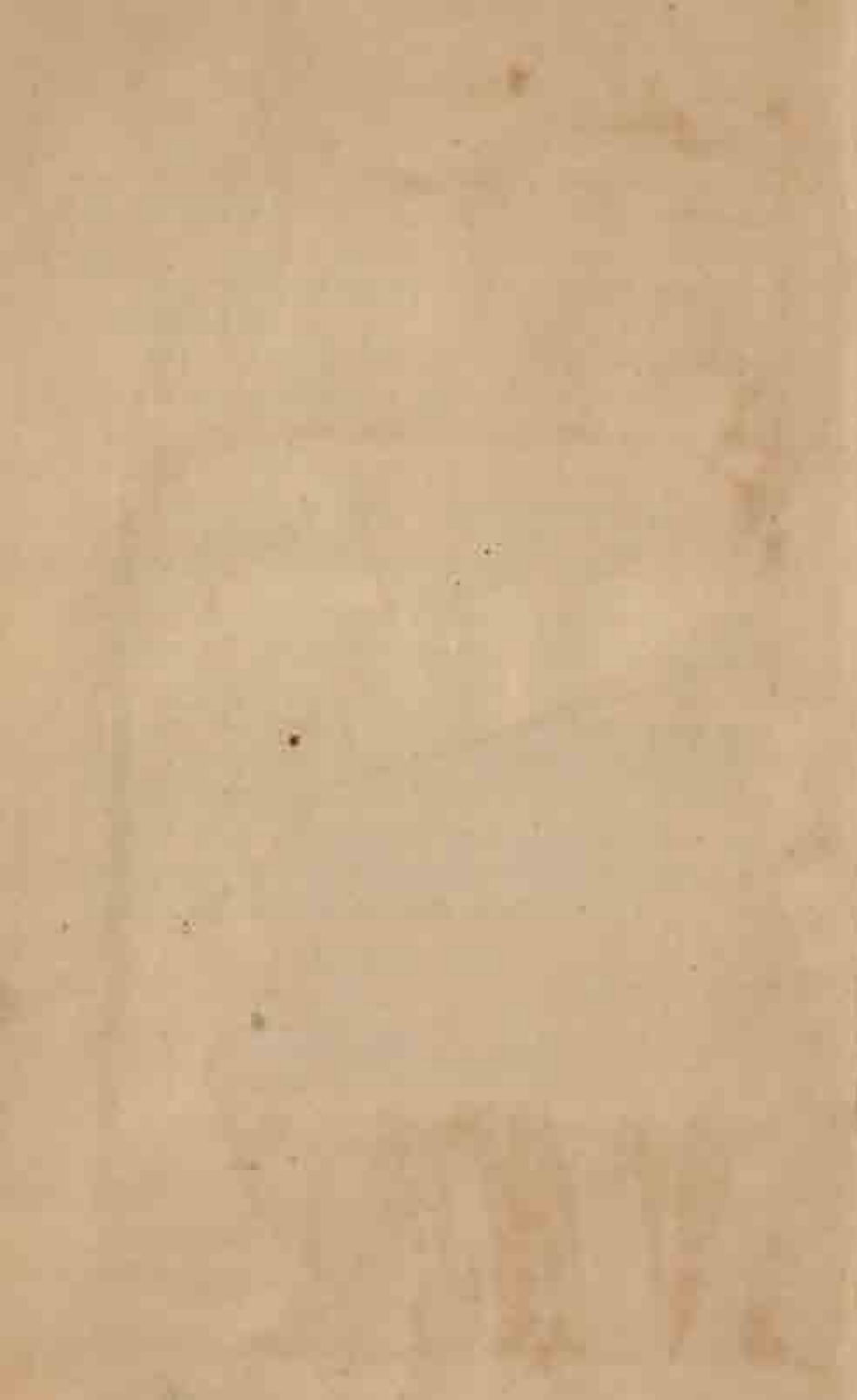
लंका : (१) बारहवीं शती का पीलूताकवा में चट्टान की काटकर बनाई गई आनन्द की मूर्ति ।

जावा (बोरोबोदूर) : (१) आठवीं शती की पत्थर की लुम्बिनी वन में माया की प्रसवावस्था की मूर्ति, (२) निरञ्जना नदी में बोधिसत्त्व के स्नान करने की मूर्ति, (३) शिरोमुण्डन का दृश्य, (४) विदाई का अंकन, (५) 'धनुर्प्रति-योगिता' शीर्षक लुट्वाई, (६) सुजाता द्वारा भोजन दात का दृश्य ।

तिब्बत : तिब्बत प्राचीन काल में भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव की परिधि में आया । खोंग-वुल्शन-गम्पो (६३९ ई०) के राज्यकाल से वहाँ की सम्प्रदाय का श्रीगणेश होता है । अपनी पत्नियों की प्रेरणा से वह बौद्ध बन गया । कवमीर ने तिब्बत को अक्षर प्रदान किए । नेपाल से शाल्ति-रक्षित और उद्यान से पद्मसम्भव वहाँ पहुँचे और उन्होंने तिब्बती लामा धर्म की नींव रखी । उन्होंने वहाँ संस्कृत ग्रन्थों का प्रचार किया और उनका अनुवाद करने के लिए विद्वान् तैय्यार किए । तिब्बत में भारतीय प्रभाव का अगला जोरदार दौर मगध के कमल-शील (८१६-८४२ ई०) और बाद में बंगाल के दीपकर श्रीमान से शुरू होता है । दीपकर श्रीमान विक्रमशिला विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे । तिब्बती विद्वानों ने मठों के अध्यक्षाओं के रूप में पाणिनि, अमरकोश, अलकोर, भैषज्य, रामायण आदि विषयों से संबंधित चुने हुए संस्कृत ग्रन्थों का दत्त-चित्त होकर अनुवाद किया । बहुत-से खोले हुए संस्कृत ग्रंथ आज तिब्बती अनुवादों में उपलब्ध हैं ।







"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY

GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.